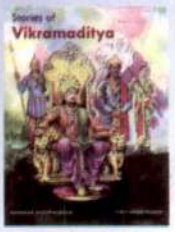
अप्रैल 2008 दस रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक













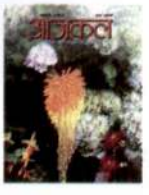




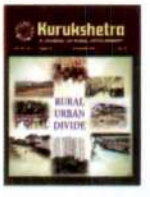


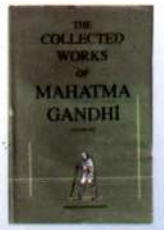


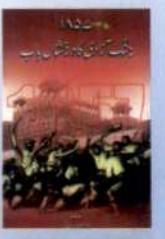






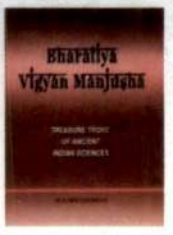














प्रकाशन विभाग की ओर से
घरेलू पुस्तक योजना की शुरूआत

पुस्तक प्रेमियों के लिए सुनहरा अवसर

विशेष आकर्षण :

1. केवल 100 रुपये देकर आजीवन सदस्यता प्राप्त करें।
2. प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित किसी भी पत्रिका का तीन वर्ष के लिए ग्राहक बनने पर वार्षिक सदस्यता केवल 50 रुपये में प्राप्त की जा सकती है।
3. सामान्य छूट के बाद सौ रुपये या उससे अधिक की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत की विशेष छूट दी जाएगी।
4. सामान्य छूट के बाद पांच सौ रुपये या उससे अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर सदस्य को 25 रुपये मूल्य की पुस्तकें/पत्रिकाएं उपहार में दी जाएंगी।
5. सभी सदस्यों को प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की सूची निःशुल्क दी जाएगी।
6. यह योजना देश–भर में केवल प्रायोगिक तौर पर शुरू की जा रही है।
7. प्रकाशन विभाग समाचार पत्रों में विज्ञापन के जरिए एक महीने का नोटिस देकर इस योजना को समाप्त कर सकता है।

सदस्यता फार्म तथा अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें–

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स,
लोदी रोड, नई दिल्ली – 110 003

फोन : 24365610, 24367260
फैक्स : 011–2436 5609
ई –मेल : dpd@sb.nic.in, dpd@mail.nic.in
वेबसाइट : www. publicationsdivision.nic.in

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 1-48

स्थापित 1915

आजकल

वर्ष : 63; अंक : 12; पूर्णांक : 762
अप्रैल 2008
चैत्र - वैशाख 1930

वरिष्ठ संपादक
योगेन्द्र दत्त शर्मा

संपादक
सीमा ओझा

आवरण : **विज्ञानव्रत**
आवरण सज्जा : **अलका नय्यर**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915
website :
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
एन.सी. मजूमदार

चंदे की दरें :
वार्षिक : 100 रुपये; दो वर्ष : 180 रुपये;
तीन वर्ष : 250 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रुपये
शेष विश्व : 730 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :

जगदीश प्रसाद
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4,
लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066
फोन : 26100207 / 26175516
ई-मेल : pdjucir_jcm@yahoo.co.in

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

लेख

6. हिंदी रंगमंच के नायक पृथ्वीराज कपूर

रंगमंच व फिल्मों के प्रख्यात अभिनेता पृथ्वीराज कपूर के बारे में बता रहे हैं ***महेश श्रमिक***

10. सादगी और साफगोई की तस्वीर

सुविख्यात कवि, समालोचक शंभुनाथ सिंह के व्यक्तित्व की चर्चा कर रहे हैं ***राजेंद्र गौतम***

12. नवां मुसाफिर : एक अनुभव अमृता के साथ

पंजाबी की जानी-मानी कवयित्री, कथाकार अमृता प्रीतम के बारे में ***राजेश चंद्रा*** का संस्मरण

20. कविता की यथार्थवादी सौंदर्य चेतना

समकालीन कविता की यथार्थवादी सौंदर्य चेतना पर प्रकाश डाल रहे हैं ***रमेश प्रजापति***

32. प्रकृति-सौंदर्य और जटिल बिंबों का कवि : जीवनानंद दास

सुविख्यात बांग्ला कवि जीवनानंद के काव्य-संसार का विवेचन कर रही हैं ***नैया***

35. मैं कहानी को निरंतर जीता हूं

सुविख्यात कथाकार **महीप सिंह** से ***कमलेश सचदेव*** और ***सिम्मी हर्षिता*** की बातचीत

कविताएं

24. चार गीत
जगत प्रसाद चतुर्वेदी

25. तीन कविताएं
बी.एल. गौड़

26. तीन कविताएं
उद्भ्रांत

27. चार कविताएं
सतीश सागर

31. चार बांग्ला कविताएं
जीवनानंद दास

कहानी

14. घोंसला (उर्दू)
श. सगीर अदीब

28. कठघरे में
से. रा. यात्री

40. किताबें
सेराज खान बातिश

स्तंभ

2. प्रसंगवश

पत्र

45. समीक्षा

47. पुस्तक परिचय

48. वातायन

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 33-22488030, **पटना :** बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवी मुंबई; दूरभाष : 9522-27570686; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरमंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली, दूरभाष :040- 24605383; **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष 041-24917673, **तिरुवनंतपुरम :** गवर्नमेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश...

व्यक्ति दो स्तरों पर यात्रा करता है। एक यात्रा भौतिक स्तर पर होती है तो दूसरी यात्रा मानसिक स्तर पर। एक संवेदनशील व्यक्ति की मानसिक यात्रा अपने घर-परिवार, रिश्ते-नातों, सुख-दुख, पीड़ा-उल्लास, यातना, संघर्ष और जिजीविषा के अंतःसूत्रों से जुड़ी होती है। वह व्यक्ति अगर रचनाकार है तो उसकी संवेदना, संवेग और आवेग और भी प्रबल होते हैं। रचनाकार का प्रेरक तत्व होता है – उसका संवेदन! अपनी संवेदनशीलता के बल पर ही वह अपने परिवेश की, अपने समाज की स्थूलतम से लेकर सूक्ष्मतम चीजों से जुड़ता है और अपनी रचना के उत्स तलाश करता है।

रचनाकार का आखिर अपने परिवेश से अथवा अपने समाज से कैसा रिश्ता है! इसे अगर परिभाषित किया जाए तो एक निष्कर्ष यही निकलता है कि यह परस्पर आदान-प्रदान का रिश्ता है। परिवेश की बात करें तो सबसे पहले घर-परिवार का ही नंबर आता है।

रचनाकार की मनःस्थिति अपनी हर यात्रा—चाहे रचना-यात्रा ही क्यों न हो—के मध्य भी घर से जुड़ाव की अर्थात परिवारोन्मुखी होती है। सूरदास के शब्दों में—

मेरो मन अनत कहां सुख पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पर आवै।

उसकी हर यात्रा की परिणति घर में ही होती है। पिछले दो-तीन दशकों से घर-परिवार के प्रति रचनाकारों की संवेदना अधिक घनी और प्रखर होती चली गई है। अपनी संघर्ष-यात्रा के दौरान भी उसे स्वाभाविक रूप से घर ही आकर्षित करता है। गीत की इन पंक्तियों में यह बात पूरी संवेदना के साथ कही गई है—

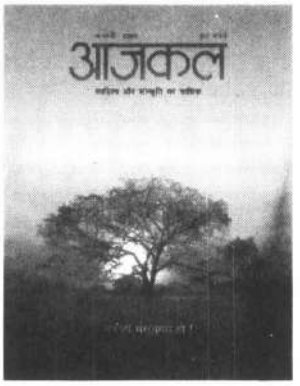
धूप में जब भी जले हैं पांव
घर की याद आई।

पर जिस तरह रचनाकार के मन में अपने घर के प्रति संवेदना होती है, क्या उसका घर भी उसके प्रति उसी प्रकार की संवेदना रखता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जो न तो सरल है और न ही इकहरा।

घर संपूर्ण समर्पण चाहता है और रचनाकार घर के प्रति समर्पित होते हुए भी घर और रचनाशीलता के बीच विभक्त रहता है। वह दोनों में से किसी एक से भी मुंह नहीं मोड़ पाता और यहीं से द्वंद्व और तनाव का जन्म होता है। उसकी तमाम निष्ठा और ईमानदारी के बावजूद घर उसे समझ नहीं पाता। वह उसे आत्मनिष्ठ और आत्मकेंद्रित सिद्ध करने पर तुल जाता है। ऐसे में रचनाकार अपनी निर्दोषता के बावजूद स्वयं को कठघरे में खड़ा पाता है।

इस विडंबना को रचनाकार किस स्तर पर जीता होगा, यह तो उसके अंतर्जगत में चल रहे उद्वेलन से ही पता लग सकता है। पर इसका एक दार्शनिक और सरलीकृत उत्तर शायद यही हो सकता है—आज तक क्या कोई कभी किसी को पूरी तरह समझ सका है! लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर ऐसा होता क्यों है!

पत्र



मनोहारी आवरण

● नव वर्ष (जनवरी) अंक के आवरण पृष्ठ का अरुणोदय, अरुणाभ क्षितिज व वृक्ष के चित्र मन में गहराई तक उतरते चले गए। यह ललित प्रयास मनोहारी लगा। 'प्रसंगवश' में अविभाज्य काल को विभाजित करने का असफल प्रयास एवं विडंबनाओं के मध्य अभिनव का अभिनंदन अच्छा लगा।

एक ही अंक में दो-दो स्तरीय संस्मरणों का समायोजन सुखद है। सत्येंद्र शरत ने समकालीन दो मित्र रचनाकारों —उपेंद्रनाथ अश्क एवं भगवती प्रसाद वाजपेयी के अंतरंग चेष्टाओं का जिस कुशलता से चित्रण किया है, वह प्रशंसनीय है।

मिथिलेश्वर ने अपनी प्रिया रेणु तथा अपने प्रिय रेणु को संस्मरण में समानांतर रखा है। अच्छा होता यदि रचनाकार रेणु को थोड़ा और स्पेस मिला होता।

'मछली मारने का पुरुषार्थ' जैसे तुच्छ शीर्षक के माध्यम से पंकज परिमल को श्रेष्ठ बात कहने में सफलता मिल गई है। इस ललित निबंध में निबंधकार ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा प्रायोजित उपभोक्ता संस्कृति एवं भौंडी सौंदर्य प्रतियोगिताओं को कलात्मक ढंग से बेनकाब किया है। यह रचना न केवल अपील करती है बल्कि अंक की सबसे बड़ी उपलब्धि भी है।

'कीर्तिस्तंभ' के अंतर्गत साहित्य के उत्तुंग शिखर जयशंकर प्रसाद के बहुआयामी रचनाधर्मिता व महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व का वर्णन वर्तमान दौर के लब्ध प्रतिष्ठ हस्ताक्षर प्रभाकर श्रोत्रिय ने जिस कुशलता से किया है, वह अद्वितीय है। जसविंदर शर्मा ने 'समर्पण' कहानी में ग्रामीण एवं नगरीय भारत के सांस्कृतिक संक्रमण तथा द्वंद्व की मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'साक्षात्कार' के अंतर्गत सत्येंद्र पांडेय, ममता कालिया से मौलिक विचार निकलवाने में सफल रहे हैं।

प्रांजलधर तथा यश मालवीय की कविताएं बाजारवाद की मजबूत आंधी में कमजोर दिए-सी टिमटिमाते हुए अपने होने का बोध कराती हैं।

वीरेंद्र सिंह ने कैफ़ी आज़मी जैसे उस्ताद शायर को समझने एवं समझाने का प्रासंगिक प्रयास किया है।

– अर्जुन प्रसाद सिंह, पाटन, सीकर (राज.)

नए युग की दस्तक

● संपादकीय दृष्टि से दिसंबर अंक महत्वपूर्ण है। दिवंगत हो चुके महान उपन्यासकारों को

एक साथ पढ़ना दिलचस्प है। दोनों में एक समानता यह है कि वे लेखन में प्रगतिवादियों की तरह मुठभेड़िये नहीं थे। देवेंद्र चौबे का आलेख अमृतलाल नागर के व्यक्तित्व-कृतित्व की कई परतें खोलता है। उनके आलेख से यह बात उभरकर आई है कि नागर जी भारत भूमि को एक समूची जाति के रूप में देखते थे। उनका यह अंदाज एक नए युग की दस्तक थी। इस नई औपन्यासिक जमीन को लेकर वे अपने समकालीनों से अलग हो जाते हैं। उनकी सर्जना में देश की प्रगति के लिए देश की जातीय एकता की अहमियत है। यही नहीं, उनके सृजन में दलित साहित्य और स्त्री-विमर्श के बीजों का निर्माण होता है।

कुर्रतुल ऐन हैदर उर्दू की लेखिका हैं। उनके उपन्यासों को हिंदी साहित्य-समाज में प्रतिष्ठा मिली है। अलका पांडे और इकबाल रिजवी के आलेखों के झरोखों से जो समझ पाया वह यही कि सुश्री हैदर के समग्र साहित्य में भारतीय संस्कृति की गहरी पैठ है जो पाठकों के दिल से 'विभाजन रेखा' जैसी अवधारणा को मिटाने का प्रयत्न करती है। वयोवृद्ध गीतकार जानकी वल्लभ शास्त्री की जीवन शैली से आर्ष ऋषियों की दिनचर्या की झलक मिलती है। उत्तर आधुनिक युग में इस अजूबे का जितना भी प्रसार हो, कम है। मृदुला सिन्हा को अनेकशः बधाई। साक्षात्कार में कवि, कथाकार रामदरश मिश्र ने प्रतिबद्ध आलोचना पर आपत्ति उठाई है। इधर आलोचना कर्म की छवि धूमिल हुई है। पक्षपातपूर्ण आलोचना की निंदा ही नहीं, विरोध होना चाहिए अंक के गीत-कविताएं पठनीय के साथ विचारणीय भी हैं।

—वीरेंद्र आस्तिक, कानपुर (उ.प्र.)

विद्वत्ता के धनी आचार्य

● प्रख्यात साहित्यकार आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री से मृदुला सिन्हा की बातचीत पढ़कर शास्त्री जी के बारे में बहुत कुछ जानने का मौका मिला।

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री जब रामदयालु सिंह कालेज मुजफ्फरपुर में प्राध्यापक थे तब मुझे उनसे हिंदी पढ़ने का अवसर मिला था। उनकी पढ़ाने की शैली बहुत ही प्रभावकारी थी। जब वे पढ़ाते रहते थे तब क्लास में सभी छात्र खामोश होकर उनकी बातें सुना करते थे। शास्त्री जी के व्यक्तित्व को देखते ही लोग प्रभावित हो जाते थे। पशु-पक्षियों से उन्हें अत्यधिक प्रेम है। कुत्ता, बिल्ली तथा गायों के साथ उनका अत्यधिक समय कटता है। इन दिनों वे अस्वस्थ्य हैं फिर भी वे गायों तथा अन्य जानवरों पर विशेष ध्यान देते हैं। व्यक्तित्व तथा विद्वत्ता के धनी आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री दीर्घायु हों ऐसी मेरी ईश्वर से कामना है।

—जयप्रकाश मिश्र, शिवहर (बिहार)

पठनीय सामग्री

● अंक में अमृतलाल नागर, कुर्रतुल ऐन हैदर, रामदरश मिश्र आदि से संबंधित सामग्रियां पठनीय और सराहनीय हैं। *आजकल* में कहानियां भी पढ़ने को अच्छी मिल जा रही हैं। हां, कविताएं प्रायः ऊबाऊ, नीरस, आंय-बांय-हांय ही परोसी जा रही हैं।

इस अंक की सबसे शानदार उपलब्धि है—आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री से संबंधित मृदुला सिन्हा का लेख 'एक डुबकी : साहित्य सागर में'। हिंदी में शास्त्री जी जैसा व्यक्तित्व विरल-दुर्लभ है। वे ऋषि परंपरा के व्यक्ति हैं और हिंदी जगत के दूसरे निराला। इस लेख और चर्चा में कुछ भ्रामक भूले हैं जिनकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है।

1. शास्त्री जी का पैतृक गांव माघरा नहीं मैगरा है।

2. मुखधर पांडेय की जगह मुकुटधर पांडेय होना चाहिए। वे रायगढ़ के राजा नहीं, बल्कि पुराने छायावादी कवि थे।

3. शास्त्री जी वहां प्राधानाध्यापक थे वे राजकवि थे और मुकुटधर पांडेय की जोरदार अनुशंसा पर नियुक्त किए गए थे।

—मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश', पटना

प्रेरणादायक अंक

● *आजकल* का दिसंबर अंक मिला। भारत भारती पुरस्कार से समलंकृत जानकी वल्लभ शास्त्री पर मृदुला सिन्हा का संस्मरणपरक आलेख इस अंक की प्राण शक्ति है। महाकवि विनोद चंद्र पांडेय की 'बाल साहित्य संरचना' संबंधी विचार नव बाल लेखकों का दिशा-निर्देशन करने में सफल हैं। वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र का साक्षात्कार उपयोगी रचना है। कमलेश भट्ट की ग़ज़लें बार-बार पढ़ने को जी करता है। हिंदी भाषा को समृद्ध बनाने में *आजकल* का योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। अंक प्रशंसनीय और शोधपूर्ण सामग्री से भरा पड़ा है जिसमें संपादकीय परिवार के प्रयास अभिनंदनीय हैं।

—चक्रधर नलिन, रायबरेली

तरोताजा करती है!

● सचमुच नब्बे पार चुके वयोवृद्ध कवि और साहित्यकार आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री साहित्य सागर हैं। उनसे मिलना साहित्य सागर में डुबकी लगाने जैसा ही है। मृदुला सिन्हा का आलेख 'एक डुबकी : साहित्य सागर में' शास्त्री जी के गरिमामय व्यक्तित्व को पारदर्शिता प्रदान करता है। 'वाराणसी की कहानी : ह्वेनसांग की जुबानी' आलेख पढ़कर अतीत के गौरव में खो गया। कैसी थी 'सीमोन द बुवा : एलिस श्वेर्जर की दृष्टि में' प्रभा दीक्षित की कलम ने अच्छी-खासी जानकारी दी। कुर्रतुल ऐन हैदर ने जब आखिरी सांस ली

निस्संदेह 'एक रचनात्मक यात्रा का अवसान' हो गया। इक़बाल रिज़वी ने भी ठीक ही कहा है 'मुद्दतों याद आएंगी ऐनी आपा'। काफी धारदार है रंदी सत्यनारायण राव का व्यंग्य 'मातम मनाने का सुख'। अपनी रचनात्मकता में जातीय सौंदर्य प्रदान करने वाले अक्षर पुरुष के बारे में देवेंद्र चौबे का आलेख 'जातीय जीवन के कथा शिल्पी : अमृत लाल नागर' सही आकलन प्रस्तुत करता है।

'देवपुत्र बाल साहित्य शोध संस्थान' आज की महत्वपूर्ण जरूरत है। बाल साहित्य रचना के बारे में विनोद चंद्र पांडेय 'विनोद' के सारगर्भित विचार स्वागत योग्य हैं। श्याम भद्र की रपट 'पूर्वोत्तर के बाल नाट्य' भी पठनीय है। गीत, कविताएं और ग़ज़लों की सुंदरता और महक मन को तरोताजा करती है। रामदरश मिश्र से संजय कुमार की बातचीत पढ़कर समय का सदुपयोग किया।

'प्रसंगवश...' में हिंदी के अमृत लाल नागर एवं उर्दू की कुर्रतुल ऐन हैदर की विशिष्टताओं को रेखांकित करके आपने अपने दायित्व का निर्वहन किया है। पुस्तक की समीक्षाएं ज्ञानवर्धक हैं और कहानियां अच्छी हैं।विगत वर्षों की तरह इस बार भी *आजकल* का नवंबर अंक बाल साहित्य पर केंद्रित रहा। आज समाज और देश में चारों ओर अनेक प्रकार की जो विकृतियां दिखाई देती हैं, उनकी एक वजह साहित्य से कटाव और अलगाव भी है। मां-बाप अपने बच्चे का कैरियर बनाने के चक्कर में उनके कैरेक्टर को नजरअंदाज कर देते हैं। अध्यापक भी छात्रों के कैरेक्टर को तरजीह नहीं देते।

बाल साहित्य बच्चों को अच्छा चरित्र देता है और अच्छा चरित्र ही देश और समाज को अच्छा नागरिक देकर उन्नत बना सकता है। सीढ़ीनुमा शासन व्यवस्था में नीचे से लेकर ऊपर तक आज जो भ्रष्टाचार व्याप्त दिखता है, उसके मूल में साहित्य से अलगाव-कटाव भी है। किसी को भी देश और समाज की चिंता नहीं है। सभी को अपने ऐसे कैरियर की चिंता है जिससे बेशुमार सुख-सुविधाएं हासिल हों। बदले में आम जनता शोषित होती रहे तो कोई हर्ज नहीं। उसकी परवाह करना उन्हें मूर्खतापूर्ण लगता है।

अगर समय रहते भावी पीढ़ी यानी बच्चों में स्कूली किताबों से अलग अच्छे साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का पाठकीय संस्कार नहीं डाला गया तो इस देश में डाक्टर, इंजीनियर और अफसरों की तो भरमार होगी, मगर संवेदनशील इंसान लुप्त होता जाएगा।

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका *----------का ☐ एक वर्ष (100 रुपये)

☐ दो वर्ष (180 रुपये) ☐ तीन वर्ष (250 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

चंदे का रुपये---------- भारतीय पोस्टल आर्डर/ मनीआर्डर / डिमांड ड्राफ्ट सं----------दिनांक--------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

पिन : ☐☐☐☐☐☐

- **कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर, *निदेशक, प्रकाशन विभाग* के नाम बनाएं।**
- **पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।**
- **दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेजी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।**

चंदा निम्न पते पर भेजें :

विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

देश भटकाव की दिशा में बढ़कर कहीं अपनी आजादी न खो दे।

–राधेलाल 'नवचक्र', भागलपुर

कुछ कहता है आवरण

● नवंबर अंक का कवर चित्रण अपने आप में बहुत कुछ कहने वाला था। 14 नवंबर को कि बाल दिवस के रूप में मनाया जाता है उस अवसर पर बाल साहित्य पर विशेष सामग्री वास्तव में त्योहार के रूप में और शिक्षाप्रद एवं बच्चों के भविष्य को और ठोस बनाने वाली है। आजकल बच्चे पढ़ाई की अधिकता से अपना बचपन पहले की अपेक्षा नहीं व्यतीत कर पा रहे हैं। इंटरनेट पर भी अश्लीलता उपलब्ध है। जिसका बच्चों पर प्रभाव भी पड़ रहा है। पर यह देखा जा सकता है कि आजकल के बच्चे काफी समझदार और जानकार होते हैं जिससे भविष्य भी सहज हो रहा है। अगर गांव के बच्चों को ठीक से सूचना प्रौद्योगिकी के लाभ मिलें और गांव में बिजली, पानी और शिक्षा की व्यवस्था हो तो देश के बच्चे और शक्तिशाली होंगे। हिंदी बाल-साहित्य की लाइब्रेरी व फिल्में हर शहर में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराने की आवश्यकता है।

–अखिलेश कुमार साह, फैजाबाद

बनी रहे परंपरा

● कीर्ति स्तंभ की लेखमाला प्रारंभ करने के लिए धन्यवाद। दृढ़ विश्वास है कि भविष्य में इससे साहित्य का काफी भला होगा। इसकी दूसरी कड़ी में सुमित्रानंदन पंत पर लेख प्रकाशित हुआ।

काशी की साहित्यिक-सांस्कृतिक धरती से नामवर जी ने उन्हें कूड़ा कहकर जिस तरह आलोचनात्मक हिलोरें पैदा की हैं, पाठकों को इस सारगर्भित लेख के द्वारा एक बार फिर पंत की परीक्षा करना आसान होगा। *आजकल* के निष्पक्ष पाठक खुद इसे तय कर लेंगे। इसकी स्वरूप-संरचना के लिए।

समीक्षात्मक तथा दृष्टि संपन्न लेखकों के सारगर्भित लेखों से युक्त *आजकल* जरूर प्रबुद्ध पाठकों की पिपासा को तोष पहुंचाता है। इसकी यह प्रकृति और परंपरा सदा बनी रहे, यह मेरी प्रबल कामना है। ध्यातव्य है कि साहित्य भी घोर प्रदूषण की मार झेल रहा है। संवेदनाएं मर रही हैं, गांव मर रहा है। बालपन उजड़ रहा है, बूढ़े अकाल काल-कवलित हो रहे हैं। ऐसी दुष्काल बेला में कोमल बालपन को रेखांकित करने के लिए धन्यवाद। निवेदन है कि यथासंभव एक अंक वृद्धों की दशा पर केंद्रित हो।

इस अंक में थोड़ी उदासी यह लगी कि बालपन पर सूर की आंखों में अठखेलियां करता बालपन के सौंदर्य का सांगोपांग चित्रण न था।

–पंकज

साधुवाद के पात्र

● अक्टूबर अंक पढ़ने का अवसर मिला। एक ही बैठक में पूरा पढ़ गया। यह अंक इस युग के महान चिंतक, साहित्य मनीषी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्मशती विशेषांक भी था। इसलिए उनके बारे में बहुत कुछ जानने, समझने व संग्रह करने को मिला।

आचार्य द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य को नए आयाम दिए व इसे उच्च शिखर पर पहुंचाया। हिंदी साहित्य में उनके अमूल्य योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

भारतेंदु मिश्र के गीतों ने जहां मन को मोह लिया वहीं रवींद्र स्वप्निल प्रजापति की कविताएं मन को कहीं बहुत गहरे तक छू गईं। प्रमोद भार्गव की कहानी 'सती का सत' विशेष पसंद आई। कहानी अत्यंत संवेदनशील, मार्मिक, मर्मस्पर्शी व यथार्थपरक थी।

इक्कीसवीं सदी में पहुंचकर भी हम वहीं के वहीं हैं, जहां से हम चले थे–अंधविश्वासी व रूढ़िवादी भावनाओं से ग्रस्त।

आज भी अनेक कुप्रथाएं हमारे सामने मुंह बाए खड़ी हैं। दहेज प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, भ्रूण हत्या, बलि प्रथा व सती प्रथा।

हमारे महापुरुषों ने इन बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाई व समाज को जागरूक करने का बीड़ा उठाया। पर ये कुप्रथाएं किसी न किसी रूप में फिर भी चली आ रही हैं। सती प्रथा के विरुद्ध प्रमोद भार्गव का प्रयास सराहनीय रहा। वे साधुवाद के पात्र हैं। जनवरी 2008 में कमलेश्वर की जन्मशती आ रही है। उन पर भी ऐसा ही जन्मशती विशेषांक निकाले।

–बलजीत गढ़वाल 'भारती', हिसार (हरियाणा)

संस्कृति के महासिंधु

● हजारी प्रसाद द्विवेदी की जन्मशताब्दी पर यह अंक उनके कृतित्व और व्यक्तित्व के महासागर में पाठक को अवगाहन कराने में पूरी तरह समर्थ था।

संपादकीय में आपका यह कहना कि 'उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का स्पर्श करना संस्कृति के महासिंधु में अवगाहन करना है; उनका ऋषितुल्य व्यक्तित्व संस्कृति, सभ्यता, समाज, साहित्य और इतिहास का एक तरंगित ज्योतिपुंज है' पूरी तरह वर्तमान साहित्य के लिए सत्य है और दुखद बात यह है कि ऐसा सांचा फिलहाल देखने में आखिर क्यों नहीं आ रहा है कि वैसा व्यक्तित्व आज के साहित्य को आलोकित कर सके?

अंक के सारे आलेख आचार्यवर, छदम रचनाकारों को सही अर्थों में साहित्यिक जमीन टटोलने और व्यक्तित्व निर्मित करने की ओर एक अवसर प्रदान करता है।

–उमाशंकर राव, देवघर (झारखंड)

कीर्ति स्तंभ

हिंदी रंगमंच के नायक
पृथ्वीराज कपूर

पृथ्वी थिएटर की नाट्य प्रस्तुतियों ने सामाजिक जागरूकता को तो आगे बढ़ाया ही, देशभक्ति और मानवीयता को भी प्रश्रय दिया। उनके नाटक यथार्थवाद और प्राकृतिक आदर्शवाद का मंत्र दर्शकों में फूंकते थे। जब स्टेज पर उनकी दम-खम भरी भारी आवाज गूंजती तो दर्शक मंत्रमुग्ध रहते थे। थिएटर की नाट्य प्रस्तुतियों में खर्च बहुत होता था और जब-तब पृथ्वीराज जी को इधर-उधर से पैसों की व्यवस्था करनी पड़ती थी। कलाकारों को सुविधाएं देने और स्टेज का खर्च उठाने के लिए वे कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध ऐसी-वैसी फिल्मों में भी रोल कर लिया करते थे। हिंदी रंगमंच के प्रतिबद्ध और समर्पित कलाकार पृथ्वीराज कपूर के बारे में बता रहे हैं

महेश श्रमिक

कोई पचास के दशक के उतरार्द्ध की बात है। तीसरे पहर का समय। हवा पर सितंबर महीने की खुनकी चढ़ चुकी थी। प्रयाग विश्वविद्यालय के खेल के विस्तृत मैदान में छात्रों की भीड़ जमी हुई थी और मंच के सामने अगली कतार में विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अच्छी संख्या में उपस्थित थे। साथ ही हिंदी के अनेक स्वनामधन्य साहित्यकार हरिवंश राय बच्चन, अमृत राय, अक्षय कुमार जैन, शिव पूजन सहाय आदि भी वहां मौजूद थे। अचानक तालियों की गड़गडाहट से पूरा विश्वविद्यालय परिसर गूंजने लगा और सुसज्जित मंच पर हल्के नीले लंबे कुरते और सफेद चूड़ीदार पायजामे में, कंधे पर क्रीम रंग की रेशमी चादर रखे एक अत्यंत सुदर्शन, कद्दावर, लंबे घुंघराले बालों वाले व्यक्ति ने प्रवेश किया और क्षणांश में ही जैसे ग्रीक देवताओं की देहयष्टि वाले इस व्यक्ति का मोहक सम्मोहन सभी पर छा गया। मैदान में अद्भुत शांति छा गई।

जादुई व्यक्तित्व वाला यह व्यक्ति था भारतवर्ष में परिनिष्ठित पेशेवर थिएटर का जनक रंगमंच और सिनेमा जगत का सर्वसम्मानित कलाकार पृथ्वीराज कपूर। मंच पर उनके स्वागत और उनकी अभ्यर्थना में वक्ताओं ने एक से बढ़कर एक कसीदे प्रस्तुत किए और पृथ्वीराज जी ने भी अपनी बुलंद आवाज में दिए गए अपने संभाषण से सभी का मन मोह लिया।

लेकिन सबसे मजेदार स्थिति उस समय आई जब काव्य जगत के निष्णात पुरोधा निराला से लोगों ने मंच पर आकर कुछ कहने का आग्रह किया। निराला जी उन दिनों थोड़ा असामान्य थे। मंच पर आते ही उन्होंने अंग्रेजी में बोलना शुरू कर दिया, जिसका कुछ साहित्यकारों ने दबी जुबान से विरोध भी किया। लेकिन निराला अंग्रेजी में ही बोलते चले गए और गंगा तथा यमुना नदियों की तरफ हाथ उठाकर जोर से बोले—"व्हेयर इज गंगा एंड ह्वेयर इज जमुना?"

फिर लम्हे भर बाद बोले—"एंड व्हेयर इज सरस्वती?"

सभी अवाक थे कि न जाने वे आगे क्या-क्या बोलेंगे। तभी निराला जी ने पृथ्वीराज जी को भरपूर दृष्टि से देखा और श्रद्धा से डबडबाकर कहा—"यू आर सरस्वती!"

पृथ्वीराज के चेहरे पर मुस्कराहट चौड़ी होती चली गई किंतु उन्होंने तत्क्षण कहा—"नो, यू आर!"

मुझे मुंबई के एक रिहायशी इलाके में एक बड़े भवन के हालनुमा कमरे में पृथ्वी थिएटर के कलाकारों की टीम के साथ अपने नाटक 'दीवार' की रिहर्सल में रमे हुए पृथ्वीराज कपूर की याद है जब उन्होंने एक कलाकार को मीठी झिड़की देते हुए कहा था—"इस डायलाग को फिर से बोलो, बेटे, क्योंकि मैं जानता हूं, तुम कर लोगे। बस, इस कैरेक्टर के अंदर चले जाओ।"

कलाकार ने झेंपते हुए कहा— "जी पापा जी! मैं फिर कोशिश करता हूं!"

पृथ्वी थिएटर के कलाकारों के ही नहीं, बल्कि मुंबई के पूरे सिनेमा जगत के ही 'पापा जी' थे भारतीय सिनेमा और रंगमंच जगत के प्रतिबद्ध और समर्पित कलाकर— पृथ्वीराज कपूर! पृथ्वी थिएटर के कलाकारों की टीम की पिछली पंक्ति का एक सदस्य मैं भी था।

महेश श्रमिक जाने-माने लेखक हैं।

समय सन 1952 के जाड़ों की एक दुपहरी और अपनी रंग-संस्था पृथ्वी थिएटर के कलाकारों के साथ अपने प्रसिद्ध नाटक 'दीवार' के मंचन की तैयारियों में कलाकारों के साथ रिहर्सल करते पृथ्वीराज कपूर। पृथ्वी थिएटर के कलाकारों की टीम की पिछली पंक्ति का एक सदस्य मैं भी था। किसी ग्रीक देवता की देहयष्टि वाले पृथ्वीराज जी का तो मैं पुजारी बनकर रह गया था। बनराज सिंह जैसी सधी चाल, गुरु गंभीर आवाज और अस्त-व्यस्त बालों से ढंके आनन का सम्मोहन किसी पर भी हो सकता था।

पृथ्वी थिएटर के कलाकारों के बीच जब भी वे रिहर्सल के लिए बैठते, लगता आमजनों के बीच अचानक कोई असामान्य देवदूत प्रकट हो गया हो। अधिकतर कलाकर डायलाग बोलना भूलकर उनके दर्शन से ही अभिभूत होते दीखते और इनमें मैं भी था। 1952 के उत्तरार्द्ध में पटना से आकर पृथ्वी थिएटर में मैं शामिल हुआ था। उस समय पृथ्वीराज जी ने बिहार में पटना और मुजफ्फरपुर समेत कुछ स्थानों का अपनी घुमंतू 'रंग-संस्था' के साथ भ्रमण किया था और अपने नाटकों की प्रस्तुतियां की थीं। उस समय वे आल इंडिया पीस काउंसिल के अध्यक्ष थे और पटना के हिंदी दैनिक *नवराष्ट्र* के संपादक मेरे पिताजी जगदीश प्रसाद श्रमिक बिहार पीस काउंसिल के महामंत्री थे।

पृथ्वीराज जी पटना के फ्रेजर रोड स्थित पिलानी होटल में ठहरे थे और वहीं पीस काउंसिल की अनौपचारिक बैठक में मैं भी अपने पिताजी के साथ गया था। वहां जब उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए मुझसे पूछा कि 'कभी किसी नाटक में स्टेज पर उतरे हो' तो क्षण-भर के लिए अवाक होकर मैं उनके चेहरे को देखता रह गया। सम्मोहन से उबरकर जब मैंने सहमति में सिर हिलाया तो 'अरे वाह' कहकर अपनी हंसी से मुझे सिक्त करते हुए उन्होंने मेरी पीठ थपथपा दी और यही क्षण मुझे पृथ्वी थिएटर में दीक्षित करने का संवाहक बना।

उच्चतम दर्जे के कलाकार तो पृथ्वीराज थे ही, गहरी मानवीय संवेदना और मर्मस्पर्शी हमदर्दी से वे ओत-प्रोत थे। सन 1952 में बिहार की राजधानी पटना आने से पहले वे पृथ्वी थियेटर की टीम के साथ उत्तर बिहार में कपड़ा व्यापार के बड़े शहर मुज्जफरपुर में भी कुछ दिनों के लिए रुके थे। वहां थियेटरों के सभी कलाकारों तथा अन्य स्टाफ के भोजन आदि की व्यवस्था के लिए एक छोटा-मोटा मेस काम कर रहा था। शहर के प्रसिद्ध कल्याणी चौक पर सब्जी की एक बड़ी दुकान चलाने वाला गरीब पहलवान मेस में रोज ताजा सब्जियां पहुंचाता था और इस बात का बड़ा गरूर हो गया था कि पृथ्वीराज कपूर जैसे बड़े स्टार से वह प्रतिदिन रूबरू होता है।

भारी बारिश के एक दिन वह सड़क पर साइकिल दुर्घटना में घायल हो गया और दूसरे दिन सब्जी पहुंचाने नहीं जा सका। शाम को थियेटर शो खत्म होने के बाद पृथ्वीराज जी को इस बात का पता चला कि हंसोड़ किस्म का वह सब्जी वाला सड़क दुर्घटना के कारण बीमार पड़ा है तो वे एक-दो स्थानीय लोगों के साथ कल्याणी चौक के पास ही एक निहायत ही तंग गली में गरीब पहलवान के घर उसे देखने चले गए। झोपड़ीनुमा एक छोटे कमरे वाले अपने खपरैल मकान में पृथ्वीराज को अपने लिए आया देख गरीब पहलवान हतप्रभ और इतना भाव-विह्वल हो गया कि लगभग रोने लगा। पृथ्वीराज जी ने उसकी पीठ पर हाथ



हिंदी साहित्य, कला और संस्कृति ने प्रगति और विकास के जो सोपान तय किए हैं उसके मूल में चिंतकों, मनीषियों, साहित्यकारों और विविध कला- विधाओं से जुड़े संस्कृतिकर्मियों का अमूल्य योगदान रहा है। इन क्षेत्रों में ऐसे अनेक मूर्धन्य साहित्यकार और कलाकार हुए हैं जिन्होंने अपनी तरह से साहित्य और कला के नए मानदंड स्थापित किए। इन महापुरुषों ने अपनी-अपनी विधाओं में ऐसे मानक प्रस्तुत किए, जो नए रचनाकारों और कला-संस्कृति के क्षेत्र के नए यात्रियों के लिए निकष भी हैं और प्रेरणा-स्रोत भी। साहित्य, चित्रकला, संगीत, स्थापत्य कला, फिल्म और रंगमंच आदि क्षेत्रों में इन महान साहित्यकारों, कलाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व को लेकर **कीर्तिस्तंभ** नामक लेखमाला प्रकाशित की जा रही है। इस बार के व्यक्तित्व हैं हिंदी रंगमंच के पुरोधा तथा सुप्रसिद्ध अभिनेता **पृथ्वीराज कपूर**।

रखते हुए उसे सांत्वना दी, हाल-चाल लिया और इलाज के लिए एक अच्छी रकम चुपके से उसके हाथों में थमा दी। अनजान आदमी की पीड़ा को इस सघनता से महसूस करने वाला संवेदनशील व्यक्ति पृथ्वीराज कपूर ही हो सकता था।

आज के पाकिस्तान स्थित फैसलाबाद के पास समुंदरी में कोई सौ वर्ष पहले 1906 की 3 नवंबर को जन्मे पृथ्वीराज कपूर की कला-यात्रा किसी थ्रिलिंग फिल्म के रील की तरह है। उनके पिता दीवान बशेश्वरनाथ कपूर पेशावर में पुलिस सब-इंस्पेक्टर थे और अपने बेटे को वकील बनाना चाहते थे। पृथ्वीराज ने पेशावर के एडवर्ड कालेज में जब ऊंची शिक्षा समाप्त की तो उन्होंने इसी उद्देश्य से उनका दाखिला कालेज की लॉ फैकल्टी में करा दिया। वकालत की पढ़ाई के दौरान ही उनका नाट्य प्रेम जगा जब एक प्रोफेसर जय दयाल और एक अंग्रेज महिला नोरा रिचर्ड ने उन्हें नाट्य आयोजनों में बहैसियत अभिनेता भाग लेने के लिए प्रवृत्त किया।

थिएटर के प्रति उनकी दीवानगी उन्हें बहुत दिनों तक पेशावर में नहीं रोक सकी और अपनी चाची से कुछ रुपये-पैसे कर्ज लेकर 1928 में वे फिल्म नगरी बंबई आ गए और यहां इंपीरियल फिल्म कंपनी ज्वायन कर ली। इस कंपनी की एक मूक फिल्म 'सिनेमा गर्ल' में 1930 में उन्होंने मुख्य भूमिका निभाई जिसकी बड़ी चर्चा हुई। अब तक मूक फिल्में ही बन रही थीं, लेकिन एक साल बाद ही 1931 में भारत की पहली सवाक फिल्म 'आलमआरा' में एक महत्वपूर्ण चरित्र का किरदार उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया। इसके बाद पृथ्वीराज कपूर ने इंपीरियल फिल्म कंपनी छोड़ दी और 'ग्रांट एंडरसन थिएटर' कंपनी में शामिल हो गए। इसकी अंग्रेजी प्रस्तुति 'हेमलेट' में लार्टिस का रोल किया जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई।

उन दिनों कोलकाता भी फिल्म प्रोडक्शन का एक बड़ा केंद्र हो चुका था और इस कलाकार ने बंबई से कोलकाता का रुख किया। वहां 1933 में वे सुप्रसिद्ध न्यू थिएटर में शामिल हो गए और अनेक बहुचर्चित फिल्मों में प्रमुख चरित्रों की भूमिकाएं अदा कीं जिनमें 'राजरानी मीरा', 'सीता, 'भंजिल,' 'प्रेसिडेंट' और विद्यापति' उल्लेखनीय हैं। 'विद्यापति' में इन्होंने राजा शिव सिंह का इतना जीवंत किरदार निभाया कि उसकी प्रशंसा करते लोग अघाते नहीं थे। इस बीच सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता चंदूलाल शाह ने इन्हें अपने रणजीत मूवीटोन में शामिल कर लिया और 1940 में मूवीटोन द्वारा निर्मित फिल्म 'पागल' में एक खब्ती डाक्टर की यादगार भूमिका निभाई और उनके इस निगेटिव रोल की सराहना समीक्षकों ने मुक्त कंठ से की। पृथ्वीराज कपूर की जबर्दस्त अभिनय क्षमता दर्शकों के सामने उस समय आई जब 1941 में सोहराब मोदी ने फिल्म 'सिकंदर' बनाई। फिल्म के भावप्रवण और चुटीले-नुकीले संवादों को पृथ्वीराज ने सिकंदर की भूमिका में जिस तरह प्रस्तुत किया उसे लोग आज भी याद करते हैं। इसी प्रकार 1960 में 'मुगल-ए-आजम' में उनके सम्राट अकबर के रोल को भी याद किया जाता है।

फिल्मों में अपने चमत्कारपूर्ण अभिनय की धूम मचाने के बाद भी इस कलाकार को वह तृप्ति नहीं मिली जिसकी इसे तलाश थी। स्टेज का सम्मोहन उसे बराबर खींचता रहा और अपने रंगमंचीय सपने को साकार करने के लिए उसका व्यग्र मन छटपटाता रहा। और तब इस कलाकार ने एक दिन 1944 में अपनी अब तक की सारी कमाई दांव पर लगाकर 'पृथ्वी थिएटर' की स्थापना बंबई में की। उस समय देश में पारसी और कोरिंथियन कंपनियां ही मुख्य रूप से अपनी तड़क-भड़क और चाक-चिक्य भरी हंगामेदार नाट्य प्रस्तुतियों से लोगों का मनोरंजन करती थीं और इनकी घुमंतू नाट्य संस्थाएं देश के विभिन्न भागों में शिविर लगा-लगाकर हैरतअंगेज नाट्य प्रस्तुतियां करती फिरती थीं। वस्तुतः पृथ्वी थिएटर ने देश में पहली बार सही अर्थों में आधुनिक और पेशेवर शहरी थिएटर की अवधारणा को मूर्त रूप दिया। अपनी देख-रेख में पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थिएटर को सोलह वर्षों तक गतिशील रखा और कुल मिलाकर 2,662 बार नाट्य प्रस्तुतियां की।

अपनी हर नाट्य प्रस्तुति में मुख्य पात्र की भूमिका उन्होंने ही निभाई। थिएटर के प्रति इनकी दीवानगी इसी तथ्य से उजागर होती है कि सोलह वर्षों की अवधि में इन्होंने बराबर एक दिन छोड़कर दूसरे दिन नाट्य प्रस्तुति की। पृथ्वी थिएटर की नाट्य प्रस्तुतियों में 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार', 'पैसा' 'आहुति', 'कलाकार' और 'किसान' प्रमुख हैं। 'पैसा' के आधार पर उन्होंने अपने निर्देशन में फिल्म भी बनाई। उनके सुपुत्र राज कपूर ने 1951 में जो अविस्मरणीय फिल्म 'आवारा' बनाई, उसमें इन्होंने उनके पिता का जो किरदार निभाया वह अभिनय की दृष्टि से मील का पत्थर सिद्ध हुआ। 'आवारा' फिल्म का गाना 'आवारा हूं' ने लोकप्रियता के सारे रिकार्ड तोड़ दिए। दुनिया के अनेक देशों में इसे गाया जाने लगा और सोवियत रूस में भ्रमण के लिए जब राजकपूर और नर्गिस गए तो रूसी हवाई अड्डे पर दोनों के स्वागत के लिए इस गाने की धुन बैंड पर प्रस्तुत की गई।

पृथ्वीराज कपूर के जीवन की एक मजेदार घटना यह है कि जब जवाहरलाल नेहरू ने एक बार उन्हें भारतीय सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व करते हुए विदेश भेजना चाहा तो उन्होंने अपनी व्यस्तता का हवाला दे कर इंकार कर दिया। इस पर नेहरू जी ने उनसे जानना चाहा कि नाटकों में वे अपनी भूमिका निभाने के लिए किसी वैकल्पिक कलाकार की व्यवस्था क्यों नहीं रखते तो पृथ्वीराज जी ने जवाब दिया कि जिस प्रकार नेहरू जी के बदले कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं हो सकती, इसी तरह उनकी भी कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है।

पृथ्वी थिएटर की नाट्य प्रस्तुतियों ने सामाजिक जागरूकता को तो आगे बढ़ाया ही, देशभक्ति और मानवीयता को भी प्रश्रय दिया। उनके नाटक यथार्थवाद और प्राकृतिक आदर्शवाद का मंत्र दर्शकों में फूंकते थे। जब स्टेज पर उनकी दम-खम भरी भारी आवाज गूंजती तो दर्शक मंत्रमुग्ध रहते थे। थिएटर की नाट्य प्रस्तुतियों में खर्च बहुत होता था और जब-तब पृथ्वीराज जी को इधर-उधर से पैसों की व्यवस्था करनी पड़ती थी। कलाकारों को सुविधाएं देने और स्टेज का खर्च उठाने के लिए वे कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध ऐसी-वैसी फिल्मों में भी रोल कर लिया करते थे।

अपने नाटक 'पैसा' के फिल्मीकरण के समय जब वे इसका निर्देशन कर रहे थे तो एक दिन अचानक उनके गले में खराबी आ गई

और उनकी आवाज अत्यंत धीमी होकर रह गई। जब घर का मालिक ही बीमार हो तो घर का क्या हाल होगा? स्थितियां बिगड़ती चली गईं और एक दिन, सन 1960 में, पृथ्वी थिएटर बंद कर देना पड़ा। पृथ्वी थिएटर बंद होने के बाद भी पृथ्वीराज कपूर ने कुछ फिल्मों में कई महत्वपूर्ण पात्रों के किरदार अदा किए। इन फिल्मों में 'आसमान महल', 'तीन बहूरानियां' और 'कल आज और कल' प्रमुख हैं। आसमान महल में बूढ़े नवाब के रूप में, 'तीन बहूरानियां' में परिवार के प्रधान के रूप में और 'कल आज और कल' में तीन पीढ़ियों के बीच के अंतराल के तनावों को झेलते हुए बूढ़े के रूप में उन्होंने अपनी प्रखरतम अभिनय प्रतिभा का परिचय दिया।

पृथ्वीराज कपूर को उनकी विलक्षण अभिनय प्रतिभा के लिए सन 1969 में पद्मभूषण की उपाधि प्रदान की गई और मरणोपरांत दादासाहेब फाल्के पुरस्कार दिया गया।

पृथ्वी थिएटर में जब भी आर्थिक संकट की घड़ी आती, वे अपना धीरज नहीं छोड़ते और अत्यंत विश्वास के साथ कहीं न कहीं से पैसे जुटाने में लग जाते। एक बार की घटना मुझे याद है। कोलकाता में 1957 में 'गद्दार' और 'पठान' की कई प्रस्तुतियां करने के बाद पृथ्वी थिएटर की टीम बंबई लौटी थी। पैसों का नितांत अभाव था और दूसरे दिन के लिए कलाकारों के लिए क्या व्यवस्था की जाए, समझ में नहीं आ रहा था। अचानक पृथ्वीराज जी ने किसी को फोन किया और किसी से कहा कि वह जल्दी पृथ्वी थिएटर आ जाए। लगभग आधे घंटे बाद एक दुबली-पतली महिला पहुंची और पृथ्वीराज जी धीमी आवाज में उससे बातें करने में मशगूल हो गए, फिर दोनों कार से कहीं चले गए। मालूम पड़ा कि महिला मुंबई की प्रसिद्ध सांस्कृतिक संस्था लिट्ल बैले ट्रूप की व्यवस्थापक और नृत्यांगना गुल झावेरी थीं और उन्होंने बंबई के गुजराती और सिंधी व्यापारियों से संपर्क करके आनन-फानन में एक अच्छी रकम की व्यवस्था भी कर दी। हम सभी कलाकारों ने जब श्रीमती झावेरी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनी चाही तो उन्होंने कहा कि मैं तो अभिनय के देवता की पूजा कर रही हूं, और कुछ नहीं।

मुझे कोल्हापुर की वह घटना भी याद है जब देर रात तक नाट्य प्रस्तुति के बाद कलाकारों के लिए भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकी तो कहीं से भूंजे और मूंगफली की व्यवस्था करके पृथ्वीराज जी ने दो-दो मुट्ठी सभी को खाने को दी जिसे सभी ने हंसी-खुशी से खाकर अपनी भूख शांत की।

पृथ्वी थिएटर की हर नाट्य प्रस्तुति के बाद एक अद्भुत स्थिति उस समय आती जब खुद पृथ्वीराज कपूर हाथ में एक झोला लिए 'पृथ्वी थिएटर' के लिए चंदा मांगने दर्शकों के बीच घूमते नजर आते।

पृथ्वीराज कपूर हिंदू खत्री थे किंतु अपने को हिंदू पठान कहते थे। उन्नीस सौ तीस, चालीस और पचास के दशकों तक अंग्रेजी पत्रिका *फिल्म इंडिया* के संपादक और प्रकाशक बाबूराव पटेल ने किसी संदर्भ मे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि 'भारतीय फिल्मों में कद्दावर पठानों के लिए कोई जगह नहीं है और इन्हें भ्रम है कि ये एक्टर बन सकते हैं।' इस पर पृथ्वीराज कपूर ने बाबूराव को उत्तर देते हुए कहा—"बाबूराव, इस पठान को मत उकसाओ। अगर भारतीय फिल्मों में मेरे लिए कोई जगह नहीं है तो मैं सातों समुद्र तैरकर पार करूंगा और हालीवुड में एक्टर बनूंगा।"

उन्हें हालीवुड जाने की नौबत तो नहीं आई लेकिन बालीवुड में उन्होंने जरूर तहलका मचा दिया।

वस्तुतः पृथ्वीराज कपूर को किशोरावस्था में ही नाटक की घुट्टी पिलाने का काम पेशावर के एडवर्ड कालेज के साहित्य और नाटक के प्रधान प्रो. जय दयाल और उनकी प्रेमिका नोरा रिचर्ड—जो शेक्सपीयर, बर्नाड शा, इलियट, इब्सन, दोस्तोवस्की आदि साहित्यकारों के नाटकों के पीछे पागल थी—ने किया।

यह भी एक चमत्कारपूर्ण तथ्य है कि उनके वंशजों पर इस पठान का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अब तक की उनकी पांच पीढ़ियां फिल्मों के लिए ही समर्पित हैं। इनमें उनके बेटे-बहुएं, पोते, परपोते— जैसे रणधीर कपूर ऋषि कपूर, राजीव कपूर, करन कपूर, कुणाल कपूर, बबीता, नीतू सिंह, करिश्मा कपूर, करीना कपूर, रणवीर कपूर आदि हैं। पृथ्वीराज के तीनों पुत्र—राजकपूर, शम्मी कपूर और शशि कपूर तो भारतीय फिल्मों में अपनी धाक जमा ही चुके हैं।

सन 1928 में एक दिन फ्रंटियर मेल ट्रेन से एक हाथ में सूटकेस और दूसरे हाथ में अपना लकी हॉकी स्टिक लिए एक अत्यंत सुदर्शन व्यक्तित्व वाला इक्कीस वर्षीय पठान बंबई के विक्टोरिया टर्मिनस रेलवे स्टेशन पर उतरा तो शायद ही किसी ने सोचा होगा कि यह फिल्म जगत और रंगमंच जगत पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाएगा। 1972 में हौजकिन रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गई। अपने पीछे उन्होंने जो समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और भारतीय रंगमंच की अकूत संभावनाओं के लिए एक विस्तृत दृष्टि फलक छोड़ा उसे उनके तीसरे पुत्र शशि कपूर ने अत्यंत योग्यता और प्रतिबद्धता से संभाल लिया है और नाट्यप्रेमियों के लिए यह सुखद संतोष की बात है कि आज अनेक प्रतिभाओं का निर्माण पृथ्वी थिएटर के जरिए हो रहा है।

शशि कपूर और पत्रकार दीपा गहलोत के सहयोग से जो पुस्तक *पृथ्वीवालाज* प्रकाशित हुई है वह पृथ्वीराज कपूर और पृथ्वी थिएटर के लगातार संघर्षों की गाथा है। शशि कपूर ने पृथ्वी थिएटर के काम-काज का सारा भार अपनी पत्नी जेनिफर को सौंप दिया था जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक अनेक वर्षों तक पूरा किया। उनके निधन के बाद आज यह काम उनके पुत्र कुणाल कपूर और पुत्री संजना कपूर कर रहे हैं।

पृथ्वीराज कपूर को आज हम अनेक भारतीय फिल्मों में मर्मस्पर्शी और चिरस्मरणीय किरदार अदा करने लिए याद करते हैं, पर बड़ा सत्य यही है कि चालीस वर्षों के अपने कार्यकाल में वे निरंतर रंगमंच के लिए ही समर्पित रहे क्योंकि यही उनका जीवन-स्पंदन था। ❑

संपर्क : महेश श्रमिक, एस. एफ.1, प्लॉट न. 101, मीडिया एनक्लेव, सेक्टर 6, वैशाली, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.)

सादगी और साफगोई की तस्वीर

शंभुनाथ जी सीधे मिट्टी से जुड़े कवि थे। उनके व्यक्तित्व में सदैव एक बाल-सुलभ सहजता ही दिखाई देती रही। लगता है, वह पीढ़ी ही कुछ और थी जो अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। ये वे लोग थे जिनसे आप असहमत तो हो सकते हैं, पर अप्रभावित नहीं; जिनसे लड़-झगड़कर भी आप उनके बने रह सकते हैं। सुविख्यात कवि, समालोचक शंभुनाथ सिंह के व्यक्तित्व की चर्चा कर रहे हैं **राजेंद्र गौतम**

एक दशक से भी अधिक हो गया है शंभुनाथ जी को गए हुए। किसी आत्मीय का निधन हमें गहरा आघात तो देता है, परंतु उन क्षणों में एक ऐसी सहनशक्ति की अपेक्षा भी हमसे रहती है, जिससे हम चले जाने वाले के संबंध में एक तटस्थ निर्ममता के साथ स्थिति को देख सकें। डा. शंभुनाथ सिंह के असामयिक निधन के समय उनसे जुड़े तीन पीढ़ियों के अनेक साहित्यकार ऐसी हर अनुभूति से गुजरे होंगे। दरअसल मौत उनके पास एक चालाक शेरनी की तरह दबे पांव आकर इस प्रकार नहीं झपटी है बल्कि उनके जीवन के अंतिम पांच वर्षों की घटनाएं क्रमशः दुखद आशंकाओं की छाया से घिरती रही थीं।

सन 85 में मुझे उनका एक पोस्टकार्ड मिला था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि मैं उनसे 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' में आकर मिलूं। तब हृदय संबंधी विकारों के कारण उन्हें वहां कुछ दिन रहना पड़ा था। एक आने वाले खतरे को मंडराता देखकर मैं तभी सहमा था, मेरी आशंका तब और बेचैन करने लगी थी जब कुछ दिन बाद ही आंशिक पक्षाघात से उनकी वाक्शक्ति बहुत प्रभावित हो गई थी। मेरे पिछले पत्र का उत्तर उन्होंने स्वयं नहीं दिया था, बल्कि उनके सुपुत्र राजीव सिंह ने ही सूचित किया था कि वे गंभीर रूप से अस्वस्थ हैं।

असल में इन वर्षों में तेजी से कुछ ऐसा घट रहा था जिससे उनका अत्यधिक सक्रियता वाला वह बिंब धूमिल होता जा रहा था, जो मेरे लिए चिर-परिचित था। मैंने तो उन्हें सदैव युवाओं जैसे उत्साह एवं वैसी ही स्फूर्ति से लैस देखा था। कहीं नौवें दशक की तेज भागमभाग ने ही तो उन्हें थका नहीं डाला था? बहरहाल तमाम पूर्व आशंकाओं के बावजूद डा. साहब का चले जाना मन पर विषाद की एक काली छाया छोड़ गया था।

लगभग पचपन वर्षों की अपनी दीर्घ साहित्य-यात्रा के दौरान उन्होंने हिंदी साहित्य में एक कवि और आलोचक के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। सन् 41 में *रूपरश्मि* के प्रकाशन से लेकर *वक्त की मीनार पर* तक उनकी रचना-यात्रा में अनेक मरहले आए हैं। पारंपरिक गीत, फिर *माध्यम मैं के* माध्यम से नवगीत की जमीन तैयार करना, पुनः नई कविता की ओर मुड़ना और अपने जीवन के अंतिम दो दशक नवगीत को समर्पित कर देना उनकी दीर्घ साधना के साक्षी हैं। इन दो दशकों में उन्होंने छांदसिक नव-काव्य की स्थापना के लिए जो लड़ाई लड़ी, उसमें वे निश्चित और साफ दृष्टि रखते थे। उन्होंने किसी बिंदु पर समझौता नहीं किया।

अपने अंतिम दौर में उन्होंने नई कविता की जो कटु आलोचना की थी, उससे ही उनके अनेक विरोधी नहीं बने, बल्कि नवगीत में भी वे अपनी साफगोई के कारण क्रमशः विवादग्रस्त हुए। यहां उनके अनेक सहयोगियों एवं मित्रों के साथ-साथ उन लोगों की संख्या भी कम नहीं है जो उनसे बहुत नाराज थे। मेरी तरह बहुत-से लेखक उनसे नवगीत विषयक उनकी कई मान्यताओं से असहमत भी थे। पर असहमति के बावजूद उन्होंने अपनी ओर से बातचीत का दरवाजा कभी बंद नहीं किया और न ही सैद्धांतिक मतभेद का असर वैयक्तिक संबंधों पर आने दिया। *नवगीत दशक* के तीन खंडों एवं *नवगीत अर्द्धशती* का प्रकाशन ऐतिहासिक महत्व का कार्य है। यह कार्य उन लोगों के द्वारा किया जाना संभव नहीं था, जो केवल आत्मप्रतिष्ठा के लिए लिखते हैं।

नवगीत दशक योजना को साकार रूप देने के लिए जो श्रम-साध्य भाग-दौड़ उन्हें करनी पड़ी, उसने उनके शरीर और मन को बहुत थका दिया था। अपने समकालीनों और अपनी दो-तीन परवर्ती पीढ़ियों के लेखकों से निरंतर पत्र-व्यवहार करना और व्यक्तिगत रूप से अनेक नगरों में जाकर ऐसा संयोजन करना जिससे नवगीत से जुड़े तमाम लेखक एक मंच पर एकत्र हो सकें, ऐसा कार्य है जिसका सही-सही मूल्यांकन तो आने वाला समय ही कर पाएगा।

सन 81-82 में देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' जी के शाहदरा वाले घर में हुई हमारी अनेक बैठकों में *नवगीत दशक* की इतिहास-निर्मात्री योजनाओं को अंतिम रूप देने के लिए हम तीनों की कई दिन घंटों बहस चलती रही थी। इन योजनाओं में कुछ नामों के छूट जाने का औचित्य हमें समझ में नहीं आ रहा था। लगता रहा था कि कल इतिहास उनको लेकर संपादक से कुछ सवाल जरूर करेगा परंतु डा. शंभुनाथ जी की अपनी दृढ़ मान्यताएं थीं। उन्हें बदलने को वे कतई तैयार नहीं थे। पर इतिहास की गति इतनी सरल और इकहरी कहां है? हो सकता है कि कल आने वाला इतिहास उनकी ही मान्यताओं को सत्य सिद्ध करे।

नवगीत-दशक एक की भूमिका का अंतिम आलेख उन्होंने ज्योतिनगर, शाहदरा वाले मेरे घर में बोल-बोलकर मुझसे ही लिखवाया था। अनेक वाक्यों एवं शब्दों पर वे मुझ जैसे अल्पज्ञ से राय मांगते थे और जहां सुझाव उन्हें जंचता था, उसे तुरंत मान लेते थे। इससे मेरा बाल-मन एक संतोष भी अनुभव करता था। तब मैं ही नहीं, मेरा पूरा परिवार उनकी सादगी से और काम करने की लगन से प्रभावित हुआ

राजेंद्र गौतम जाने-माने कवि और समालोचक हैं।

था। भोजन में क्या लेंगे—यह पूछे जाने पर उन्होंने सहजता से कहा था—'केवल खिचड़ी।' कई घंटे श्रम करके भोजन करने बैठे तो सीधा निर्देश मिला—'कोई ताम-झाम नहीं।' फर्श पर चटाई बिछाकर दही और नींबू के अचार के साथ तृप्त भाव से उन्होंने खिचड़ी का भोग लगाया। उनकी सादगी से हम सभी प्रभावित थे। दिन के पिछले प्रहर में बच्चों से गुड़ मंगवाकर उन्होंने जिस प्रकार जल के साथ खाया उनकी वह बाल-सुलभ सुलभ सहजता मेरी स्मृति का स्थायी अंग बन गई है।



'नवगीत अर्द्धशती' के लोकार्पण समारोह में डा. शंभुनाथ सिंह तथा अन्य

नवगीत दशकों के प्रकाशन-विमोचन आदि के सिलसिले में दिल्ली में अनेक बार मुझे उनके साथ अनेक जगहों पर जाना पड़ा। मैंने उन्हें सदैव एक चपल उत्साह से भरा पाया। हमने बहुत यात्राएं कीं—पैदल, रिक्शा और दिल्ली परिवहन की बसों में। इन यात्राओं में वे बिल्कुल आम आदमी के रूप में भीड़ का हिस्सा बनकर ही चलते रहे थे। मुझे दिल्ली पधारने वाले कई 'एरिस्टोक्रेट' साहित्यकारों के साथ भी कई बार यात्रा करनी पड़ी थी। तब मुझे उन परिचित साहित्यकारों एवं मित्रों का खयाल बार-बार आता रहा जो स्कूटर-टैक्सी के बिना दो कदम चलना भी अपनी शान के खिलाफ समझते हैं।

डी.टी.सी. की भीड़ से प्राप्त अनुभव से उन्होंने एक गीत लिखा और मुझे सुनाया। कैसे हम अलग होकर भी जुड़े हैं—यह भाव उस गीत में व्यक्त किया गया था। अनुभूति की ईमानदारी कैसे कविता में ढलती है, यह तो उस गीत से स्पष्ट होता ही था, सामान्य अनुभव एक बड़ी रचना को किस प्रकार जन्म देते हैं, यह भी उस गीत से जाना जा सकता है।

पहले दशक का विमोचन तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया था। संयोजक थे—प्रसिद्ध समाचार-वाचक अशोक वाजपेयी। वह दिन मैं भुला नहीं पा रहा हूं। उस दिन उमाकांत मालवीय, देवेंद्र शर्मा 'इंद्र', देवेंद्र कुमार, माहेश्वर तिवारी, सोम ठाकुर, डा. शिव बहादुर सिंह भदोरिया जैसे नवगीतकारों का अनुपम मिलन प्रधानमंत्री आवास पर हुआ था। आज उमाकांत जी और देवेंद्र कुमार जी हमारे बीच नहीं हैं। इस समूचे संयोजन के सूत्रधार डा. शंभुनाथ सिंह भी चले गए और उनका यह प्रस्थान एक सन्नाटा छोड़ गया—एक तोड़ देने वाला, बिखेर देने वाला सन्नाटा!

तीसरे दशक का विमोचन लखनऊ में महादेवी वर्मा ने किया था। उस सम्मेलन में शिवमंगल सिंह 'सुमन', वासुदेवशरण सिंह और अमृतलाल नागर भी पधारे थे। दैवयोग से अब ये चारों ही हमारे बीच नहीं हैं। दो दिनों के उस समारोह में आतिथेय, संचालक, संयोजक और सहभागी के रूप में डा. शंभुनाथ सिंह ने अनेक भूमिकाएं निबाही थीं। दिल्ली से देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' और योगेंद्र दत्त शर्मा के साथ मैं भी इस कार्यक्रम में सम्मिलित हुआ था। वहां डा. शंभुनाथ सिंह ने हमारे जैसे नए लेखकों को महादेवी जी से विशेष रूप से मिलवाया था। उस कार्यक्रम में इस अवस्था में भी उन्होंने युवाओं की तरह जो श्रम किया था, वह उनकी लगन का दस्तावेज लिख रहा था।

शंभुनाथ सिंह में वैचारिक दृढ़ता थी, यह सही है, पर व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित लचीलेपन का उनमें अभाव नहीं था। उनकी कविता-यात्रा इसका प्रमाण है। 'समय की शिला' पर उन्होंने जो हस्ताक्षर किए हैं, वे अमिट तो हैं पर वे उनकी गतिशीलता को अंकित नहीं रहने देते। छायावादी एवं रूमानी भाव-भूमि से गीत रचना आरंभ करके वे बहुत शीघ्र उस परिवर्तित भूमि पर पहुंच गए थे, जिसमें आंचलिकता एवं लोकपरकता प्रधान थी। 'टेर रही प्रिया तुम कहां' और 'पुरवा धीरे बहो/ मन का आकाश उड़ा जा रहा' जैसे गीतों ने नए युग के वातायन खोले थे। अभिव्यक्ति की स्वच्छंदता के लिए वे 'नई कविता' के क्षेत्र में भी गए। वहां वे बहुत समय तक रहे भी। परंतु आठवें दशक के बाद वे फिर गीत की भूमि पर लौट आए। पर अब वे नए रूप में थे। आंचलिकता की अपेक्षा आधुनिकता-बोध से संपन्न गीत ही इस दौर में उन्होंने लिखे। युद्धों से त्रस्त मानवता और यांत्रिक आधुनिकता को प्रतीकों एवं रूपकों की भाषा में उन्होंने रागात्मक अभिव्यक्ति दी। *वक्त की मीनार* पर ऐसे ही गीतों का संकलन है।

डा. शंभुनाथ सिंह की पुरातत्व में भी गंभीर रुचि थी। उन्होंने इस विषय में अनेक लेख लिखे हैं। परंतु एक कवि के अतिरिक्त उनकी ख्याति एक आलोचक के रूप में विशेष रही है। *छायावाद युग* और *हिंदी महाकाव्य का स्वरूप-विकास* ऐसे शोध-ग्रंथ हैं, जो आज के उपाधि-अन्वेषी शोध की भीड़ में उनके व्यक्तित्व को अलग से प्रतिष्ठित करते हैं। *प्रयोगवाद और नई कविता* में उन्होंने अपने समकालीन काव्य का तटस्थ इतिहास प्रस्तुत किया है।

शंभुनाथ जी सीधे मिट्टी से जुड़े कवि थे। मैंने उनके व्यक्तित्व में सदैव एक बाल-सुलभ सहजता ही पाई है। लगता है, वह पीढ़ी ही कुछ और थी जो अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। ये वे लोग थे जिनसे आप असहमत तो हो सकते हैं पर अप्रभावित नहीं; जिनसे लड़-झगड़कर भी आप उनके अपने बने रह सकते हैं! ऐसे लोगों की पीढ़ी थी वह! डा. शंभुनाथ सिंह अपने जीवन और साहित्य में दृढ़ता, साफगोई और सादगी के लिए याद किए जाएंगे— ऐसा मेरी मान्यता है। ❑

संपर्क : बी-226, राजनगर-1, पालम, नई दिल्ली-110077; ई-मेल : rajendragautam99@yahoo.com

संस्मरण

नवां मुसाफिर : एक अनुभव अमृता के साथ

दीवाली के अवसर पर आठ मुसाफिरों वाली वह नूह की कश्ती की मूर्ति अमृता जी ने मुझे उपहारस्वरूप दी। मेरे दिल में रोशनी की किरण की तरह एक खयाल आया—शायद उस नवें मुसाफिर ने यह सब कुछ किया जो सब जगह है लेकिन दिखता कहीं नहीं। मैंने उस अदृश्य नवें मुसाफिर को अकीदत की गहराई से सलाम करके दोनों हाथों की अंजुरी में नूह की कश्ती संभाली...। मैंने अपने रोंएं-रोंएं से अनुभव किया कि वह नवां भी मेरे आसपास है। पंजाबी कथाकार अमृता प्रीतम के बारे में **राजेश चंद्रा** *का संस्मरण*

एक दिन बड़ा अजीब वाकया हुआ।

अमृता जी के पास पहुंचा। उन्होंने मुझसे कहा—"राजेश, आज आपको एक प्राचीन पुस्तक दिखाती हूं, शायद त्रेता युग की!"

"त्रेता युग की! इतनी प्राचीन पुस्तक! आपके पास कहां से आई?" मैंने विस्मय से पूछा।

अमृता जी ने बड़ी गंभीर मुद्रा से कहा—"कोई दे गया है।"

मैंने पूछा—"सच में या सपने में?"

यह सवाल मैंने इसलिए पूछा क्योंकि अमृता जी को बड़े रूहानी किस्म के सपने आते हैं। सपनों में उन्हें साधु, फकीर, संन्यासी, देव-देवियों के दर्शन होते हैं, वे अक्सर उन्हें कुछ भी दे जाते हैं...।

लेकिन अमृता जी ने जवाब दिया—"सपने में नहीं राजेश, सच में!"

मैं सोचने लगा—त्रेता युग की पुस्तक अमृता जी को कोई सच में दे गया है तो वह भी कोई त्रेता युग का ऋषि-मुनि होगा। फिर अपने मन को समझाया—अमृता जी के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। उनके पास तो एक से एक साधु-संन्यासी आते ही रहते हैं। हो सकता है, इस बार प्राचीन युग का कोई साधु स्थूल देह में उनके पास आ गया हो।

मेरा मन हैरानी से भरा हुआ था। अमृता जी ने अपने बाईं ओर की अलमारी से एक छोटी-सी पुस्तक उठाई। हथेली-भर की गुटका आकृति में। मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"यह है वह पुस्तक!"

मैंने दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर पुस्तक हाथों में ली, माथे से लगाई, चूमा और फिर बड़ी जिज्ञासा से मुखपृष्ठ खोला!

मुखपृष्ठ खोलते ही मुझे बेरोक हंसी फूट पड़ी और अमृता जी भी खिलखिलाकर हंसीं। कहने लगीं—"कैसी लगी पुस्तक?"

हंसी थमी तो कहा—"माता, बहुत ही प्यारी!"

दरअसल वह एक छोटी-सी मूर्ति थी जिसे किताब की शक्ल में जिल्दबंद किया गया था। देखने से लगता था कि किताब है, लेकिन ऊपरी जिल्द खोलते ही सामने किताब के पन्ने नहीं बल्कि मूर्ति नजर आ रही थी।

अमृता जी का यह विस्मय मुझे अच्छा गला। वह 'प्राचीन पुस्तक' दिखाकर कहने लगीं—"यह मुझे उड़ीसा से देविंदर ने लाकर दी है। मेरे मन में खयाल है कि इस बार दीवाली पर ऐसी ही छोटी-छोटी मूर्तियां जिल्दबंद करके सबको उपहार में दूं। क्या ऐसी छोटी मूर्तियां कहीं मिल पाएंगी? शायद किसी एंपोरियम में मिल जाएं।"

मैंने कहा—"माता, मैं खोजूंगा। मुझे उम्मीद है कि ऐसी मूर्तियां मिल जाएंगी। मैंने क्राफ्ट म्यूजियम में ऐसी मूर्तियां देखी हैं...।"

उस दिन से मेरे मन में वैसी ही मूर्तियां ढूंढने की धुन सवार थी। क्राफ्ट म्यूजियम जाने का समय नहीं मिल पा रहा था।

एक दोपहर मेरे एक सहकर्मी ने मुझसे कहा—"राजेश, मैंने सरोजिनी नगर में मूर्तियों का एक स्टॉल देखा है। मुझे दीवाली के लिए लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियां खरीदनी हैं। मेरे साथ चले चलो...।"

मैंने अपने विभागीय मित्र से मूर्ति वगैरह के बारे में कोई बातचीत नहीं की हुई थी। उसको मुझे साथ लेने का कारण था कि मैं अपने स्कूटर से उसके साथ मार्केट जाकर दोपहर के भोजन के वक्त में ही कार्यालय वापस भी लौट सकता था। मैंने उसके प्रस्ताव को यह सोचकर सहर्ष स्वीकार कर लिया कि क्या पता उस स्टॉल पर मुझे भी वे मूर्तियां मिल जाएं जिनकी मुझे तलाश है। लेकिन यह बात मैंने मित्र से नहीं कही और दोपहर भोजन के वक्त हम सरोजिनी नगर गए। हमारे कार्यालय से सरोजिनी नगर तक स्कूटर से जाने में मुश्किल से पांच मिनट लगते हैं।

मूर्तियों का स्टॉल देखकर मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। प्राचीनता का स्पर्श दी हुई मूर्तियों का वहां बड़ा अच्छा संग्रह था। मैंने मन में सोचा—यहां से अमृता जी के लिए मूर्तियां मिल सकती हैं। लेकिन मूर्तियों को चुनना, उन्हें ले जाकर अमृता जी को दिखाना, फिर वापस आकर चुनी हुई मूर्तियां खरीदना—यह सब कुछ मुझे अव्यावहारिक-सा लगा। दिल में ख्याल आया—काश! अमृता जी या इमरोज जी मेरे साथ यहां आ जाते तो मनचाही मूर्तियां खरीद लेते। अगले ही पल दूसरा खयाल आया—यह कहां संभव है! फिर यही ठीक लगा कि किसी दिन पांच-छह नमूना मूर्तियां खरीद ले जाऊंगा, अमृता जी को दिखाऊंगा। जो उन्हें पसंद आ गईं तो और खरीद ले जाऊंगा।

राजेश चंद्रा सुपरिचित लेखक हैं।

इसी मकसद से फिर एक दिन मैं स्कूटर से कार्यालय गया कि दोपहर के भोजन के वक्त निकल जाऊंगा, मूर्तियां खरीदकर अमृता जी को दिखा लाऊंगा। जो उन्हें पसंद आई, वह आकर और खरीद लूंगा।

अपने आफिस में मैं कंप्यूटर के सामने बैठा था, कुछ काम कर रहा था। कोई बहुत खास काम नहीं था कि लगभग सवा ग्यारह बजे बड़ी तीव्रता से एक विचार-तरंग उठी—अभी मार्केट जाता हूं, मूर्तियां खरीद लाता हूं। हालांकि अभी भोजन का वक्त नहीं हुआ था। इसलिए इस विचार तरंग को मैंने टालना चाहा। लेकिन इस विचार की तीव्रता और तेज हो गई—नहीं, मार्केट अभी जाना चाहिए। इस विचार ने मुझे बिल्कुल आदेश-सा देना शुरू कर दिया—अभी मार्केट जाओ। जैसे मैं इस तरंग के अधीन-सा हो गया और कंप्यूटर के सामने से उठ खड़ा हुआ। साथ बैठे दो सहकर्मियों से कहा—"मैं सरोजिनी नगर मार्केट जा रहा हूं।"



अमृता प्रीतम

इस निर्णय को मैंने इस तरह तर्कसंगत ठहरा लिया कि फिर दोपहर भोजन के वक्त अमृता जी के घर भी हो आऊंगा, उन्हें मूर्तियां दिखा भी दूंगा। उस दिन मेरे बेटे का जन्मदिन था। सोचा—शाम को घर जल्दी चला जाऊंगा।

पांच मिनट बाद मैं सरोजिनी नगर मार्केट की स्कूटर पार्किंग में स्कूटर खड़ा कर रहा था तो सामने देखकर मन खिल गया—वहां इमरोज जी खड़े थे। मैं दौड़कर उनके पास पहुंचा, उनका हाथ चूमा। मैं उनका अभिवादन ऐसे ही करता हूं। हम दोनों ने एक साथ पूछा—"यहां कैसे?"

मैंने बताया—"मैं अमृता जी के काम से ही यहां आया हूं। मुझे मूर्तियों की एक बड़ी अच्छी दुकान मिल गई है...।"

वे कहने लगे—"अमृता भी आई है, अंदर बाजार में बहू के साथ खरीदारी कर रही है।"

थोड़ी देर बाद मैं अमृता जी, इमरोज जी और अलका भाभी को लेकर दुकान पर पहुंचा।

मूर्तियों की दुकान देखकर अमृता जी भी खुश हो गईं। उन्हें मनचाही मूर्तियां मिल गईं। उन्होंने चुन-चुनकर छोटी-छोटी मूर्तियां खरीदीं जिन्हें किताब की शक्ल में जिल्दबंद किया जा सके। उन्हीं में एक मूर्ति कश्ती की शक्ल में थी जिसमें आठ मुसाफिर सवार दिख रहे थे। अमृता जी ने हाथ बढ़ाकर वह मूर्ति उठा ली, कहा—"अरे, यहां तो नूह की कश्ती भी मिल गई।"

दरअसल अमृता जी उन दिनों मिखाईल नईमी की सुप्रसिद्ध पुस्तक *दि बुक ऑफ मीरदाद* की पृष्ठभूमि पर बड़े अहसास से भरकर एक किताब लिख रही थीं—'चिरागों की रात'।

दि बुक ऑफ मीरदाद में नूह की कश्ती का जिक्र है जिसमें जाहिरा तौर पर आठ मुसाफिर सवार रहते हैं और एक नवां मुसाफिर होता है जो कश्ती में ही है लेकिन दिखता किसी को नहीं है।

कश्ती की शक्ल की मूर्ति उठाकर अमृता जी गौर से देखने लगीं, गिने, उसमें भी आठ ही मुसाफिर थे। वह मूर्ति भी उन्होंने खरीद ली।

अमृता जी को मनचाही मूर्तियां मिल गईं, इससे मुझे दिल-ही-दिल में बड़ा सुकून महसूस हो रहा था। लेकिन यह बात मुझे आज तक हैरान करती है कि उस दिन हुआ क्या? अमृता जी—इमरोज जी जिस समय सरोजिनी नगर मार्केट में थे, ठीक उसी समय मुझे तीव्र विचार निर्देश मिला—अभी मार्केट जाओ!

क्या इसे महज संयोग मान लिया जाए? या कोई और राज है?

अमृता जी को मूर्तियां खरीदवाकर मैं आफिस वापस आ गया। फिर शाम को उनके घर गया तो वह भी उस दिन की घटना पर उतनी ही हैरान थीं। कहने लगीं—"राजेश, आज जरूर कुछ हुआ है। मैं भी बीते कल मार्केट जाने को थी लेकिन नहीं गई, आज गई। फिर उस मार्केट में मैं कभी जाती भी नहीं। बस, यहीं पास की हौजखास मार्केट तक जाती हूं, लेकिन वहीं चली गई। जरूर इसके पीछे कोई बात है।"

मैंने बताया—"आज मेरे बेटे का जन्मदिन है...।"

बड़ी ममता से वह कहने लगीं—"ऐसे ही रोज आपके बेटे का जन्मदिन हो!"

यह रहस्य आज तक मेरी समझ में नहीं आया कि यह सब कैसे हुआ? वह कौन-सी शक्ति थी जिसने मुझे और अमृता जी को एक साथ एक समय में, एक ही स्थान पर, एक ही मकसद से पहुंचा दिया? यह महज संयोग तो नहीं लगता।

दीवाली के अवसर पर आठ मुसाफिरों वाली वह नूह की कश्ती की मूर्ति अमृता जी ने मुझे उपहार-स्वरूप दी। मेरे दिल में रोशनी की किरण की तरह एक खयाल आया—शायद उस नवें मुसाफिर ने यह सब कुछ किया जो सब जगह है लेकिन दिखता कहीं नहीं।

मैंने उस अदृश्य नवें मुसाफिर को अकीदत की गहराई से सलाम करके दोनों हाथों की अंजुरी में नूह की कश्ती संभाली...। मैंने अपने रोएं-रोएं से अनुभव किया कि वह नवां भी मेरे आसपास है... ❑

संपर्क : अवलोकितेश्वर चंदन विला, 76-ए मोनार्च सिटी, फेस-1, रिंग रोड पारा, लखनऊ-226017 (उ.प्र.)

घोंसला

श. सगीर अदीब

उर्दू से अनुवादक : **सुरजीत**

रेखांकन : **राजेंद्र गायकवाड़**



हैदर ने गर्दन मोड़कर कयूम चचा की ओर देखा—"क्या बात है, चचा? आप कुछ बे-आराम से लग रहे हैं?"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं!" उन्होंने मुस्कराकर कहा—"मैं ठीक हूं।"

"पान खाएंगे?"

उन्हें एकाएक ध्यान आया कि वर्षों से उन्होंने पान नहीं खाया है, हालांकि अरसा पहले जब वतन में थे, तो अक्सर मीठा पान खाया करते थे। कुछ क्षण विराम के बाद उन्होंने कहा—"अच्छा, खा लूंगा!"

सामने पनवाड़ी की दुकान थी। हैदर लपकता हुआ दुकान की ओर चला गया। वे फुटपाथ पर खड़े कुछ विस्मय, कुछ उत्साह की अवस्था में चारों ओर का निरीक्षण करते रहे। वह सड़क हालांकि उनकी देखी-भाली थी, फिर भी वे उसे अच्छी तरह पहचान नहीं पा रहे थे।

पिछले बरसों में सड़क का नक्शा बहुत हद तक बदल गया था। जहां बचपन में वे अपने दोस्तों के साथ गुल्ली-डंडा और क्रिकेट खेला करते थे, मगर अब वह मैदान नहीं था। वहां अब मकान और दुकानें बन गई थीं। दाईं ओर चौराहे के दूसरी ओर खपरैल की छतों वाली कई दुकानें हुआ करती थीं— मिठाई की और परचून की। एक चायखाना भी था, जहां नौजवानी के दिनों में वे अक्सर अपने दोस्तों—सलीम और काशफ आदि के साथ मलाई वाली चाय पिया करते थे। मगर वे सब दुकानें भी अब गायब हो चुकी थीं और उनकी जगह ऊंची-ऊंची इमारतें खड़ी हो गई थीं, जिनमें रेडियो, टी. वी. और कपड़े की दुकानें थीं। एक जनरल स्टोर था और एक बैंक।

एक परिवर्तन और हुआ था और वह यह कि सड़क पर यातायात नाम-मात्र ही होता था। कुछेक राहगीर आते-जाते नजर आ जाते थे। कभी-कभार कोई इक्का, तांगा गुजर जाता और कभी एकाध कार, लेकिन अब वही सड़क बेहद भीड़ भरी और व्यस्त हो गई थी। दोनों ओर फुटपाथों पर लोगों की भीड़ चल रही थी, जबकि सड़क पर रिक्शों, कारों और बसों का तांता बंधा था। साथ ही पूरी सड़क आवाजों से भरी हुई थी। रेहड़ी वालों की आवाजें, गाड़ियों

श. सगीर अदीब उर्दू के जाने-माने कहानीकार हैं।

के इंजन का शोर और चायखानों से बुलंद होने वाली फिल्मी गानों की आवाजें।

उन्हें बाजार का यह नया रूप अच्छा नहीं लगा। दिल में एकाएक दहशत-सी हुई और एक पछतावा-सा—जैसे उनकी कोई अमूल्य वस्तु उनसे छीन ली गई हो।

हां, शायद यही सही है। उनसे उनका लड़कपन और उसकी पहचान छिन गई थी। वह मैदान और मैदान के छोर पर खड़े नीम और पीपल के दरख्त और खपरैल की छतों वाली दुकानें और सड़क की पुरसुकून खामोशी—ये सब उनके बचपन की पहचानें थीं, मगर अब वे बाकी नहीं रही थीं। दिन-रात बदलती दुनिया ने सारे नक्श मिटा दिए थे। न बचपन रहा था, न लड़कपन के निशान और न गए दिनों के साथी। सारे मंजर अतीत के अंधे कब्रिस्तान में दफन हो चुके थे। अब जो मंजर सामने था, वह बहुत हद तक अजनबी था, और यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी।

गए दिनों का खयाल आया, तो ध्यान एक बार फिर लड़कपन के साथियों की ओर गया—सलीम, काशफ और अनवर आदि। सलीम और काशफ से अधिक सामीप्य था। एक ही स्कूल में पढ़े थे। एक साथ शरारतें की थीं। फिर जवानी आई, तो रास्ते अलग हो गए। आखिरी बार उन्होंने काशफ और सलीम को कोई तीस साल पूर्व देखा था, जब वे वतन आए थे। उसके बाद कोई संपर्क नहीं रहा। पत्र-व्यवहार तक समाप्त हो गया। दोनों शहर छोड़कर कहीं और चले गए थे।

अपने बचपन के दोनों साथियों का खयाल आया, तो दिल एकाएक उदास हो गया। न जाने अब वे कहां होंगे? किस हाल में होंगे? जमाना बीत चुका है। जिंदगी की शाम गहरी हो रही है। पता नहीं, वे जिंदा भी होंगे या... उन्होंने एकाएक सहमकर सिर को झटका दिया ... जोर से सांस ली और हैदर की ओर उन्मुख हो गए।

पान मुंह में रखकर उन्होंने कहा—"भई हैदर, इस सड़क का तो सारा नक्शा ही बदल गया है!"

"जी हां!" हैदर ने आस-पास में देखा—"इस बार आप बड़ी मुद्दत के बाद आए हैं। इस अरसे में वाकई बहुत तब्दीलियां हो गई हैं। शहर अब पहले जैसा नहीं रहा। नए-नए मुहल्ले आबाद हो गए। बिल्डिंगें और मार्केट बन गए। आबादी में बहुत वृद्धि हो गई है। ये जो सामने आप इमारतें देख रहे हैं, मेरा खयाल है, आपके लड़कपन में उस जगह एक मैदान हुआ करता था...!"

"हां!" उन्होंने हंसकर जरा खुशदिली से कहा—"हम वहां गुल्ली-डंडा, कबड्डी और क्रिकेट वगैरा खेला करते थे।"

हैदर भी हंसा—"आपको यह तब्दीली शायद कुछ अच्छी नहीं लगी होगी?"

उन्होंने उदासी से सांस ली—"हां, एक पछतावा-सा हुआ...।" रुके। फिर बात बढ़ाई—"दरअसल उन दिनों यह शहर बहुत पुर-अमन और पुरसुकून हुआ करता था। यह भीड़-भाड़ शोर और भागदौड़ नहीं थी। एक सुरक्षा और शांति का अहसास था, जो अब नजर नहीं आता। यह शोर-शराबा और अफरा-तफरी देखकर यों लगता है, जैसे हर व्यक्ति भागमभाग की हालत में है और किसी को भी अगले पल का भरोसा नहीं है।"

"आप ठीक कहते हैं!" हैदर की आवाज में भी निराशा का प्रभाव उभर आया—"जिंदगी अब इतनी आसान नहीं रही, जितनी आपके जमाने में थी!"

"खैर...!" उन्होंने कदम आगे बढ़ाते हुए कहा—"अब कहां चलें?"

"खदीजा खाला के यहां चलते हैं। उनसे आप अभी तक नहीं मिले हैं।"

"खदीजा!" उन्होंने चौंककर कहा—"तुम्हारा मतलब है, सदरा आपा की लड़की! मगर भई, वह तो गांव में रहती थी और मैंने उसे पिछली बार कोई पैंतीस साल पहले देखा था।"

"आप ठीक कहते हैं!" हैदर ने भी कदम बढ़ाया—"मगर हुआ यह कि गांव में उनके आर्थिक हालात ठीक नहीं रहे। फिर उनके शौहर का भी इंतकाल हो गया। मजबूर होकर वह कोई चार साल पहले यहां आ गईं। लड़के और बहू के साथ रहती हैं।"

"अब तो बहुत बूढ़ी हो गई होगी?"

हैदर हौले-से मुसकराया—"जाहिर है, आप से उम्र में दो-तीन साल ही छोटी होंगी?"

"पांच साल...!" उन्होंने संशोधन किया। फिर कहा—"घर कहां है उसका?"

"उस्मान चचा का घर तो आपको याद ही होगा...उनके पास वाली गली में रहती हैं।"

"तो फिर ठीक है। चलो, उस्मान के यहां भी हो लेंगे।"

वे हौले-हौले पान चबाते रहे और आगे बढ़ते रहे। नजरें इर्द-गिर्द भटक रही थीं। उन नजरों में कूतूहल भी था, जिज्ञासा भी और साथ ही एक अज्ञात-सी हसरत और कसक भी। उन्हें ऐसा महसूस हो रहा था, जैसे इर्द-गिर्द का दृश्य पूर्ण तो है; हर वस्तु जिस प्रकार और जिस जगह है, उसे उसी प्रकार होना चाहिए; इमारतें और दुकानें और पेड़ और सड़क पर आते-आते लोग, सबके सब इस दृश्य का स्वाभाविक और अनिवार्य अंग हैं; फिर भी कहीं कोई कमी है। कोई वस्तु ऐसी है, जो होनी चाहिए थी, पर नहीं है, मगर यह कमी क्या है? उन्होंने जोर से सांस ली। हां, ठीक है। वह कमी वे खुद हैं। उनकी जिंदगी के चालीस साल हैं, जो इस दृश्य में शामिल नहीं हैं, हालांकि इसी हवा में उन्होंने सांस ली थी। इसी वायुमंडल में पले-बढ़े थे। इस दृश्य को अपनी यादों के निगारखाने से कभी नहीं निकाला था, लेकिन इस दृश्य ने जरूर उन्हें खारिज कर दिया है। इसमें कुसूर किसका है? इस दृश्य का या स्वयं उनका? यह खयाल कुछ खुशगवार नहीं था। उन्होंने होठों पर जबान फेरी। और उदासी से हैदर की ओर देखा।

वह कह रहा था—"कयूम चचा, रिक्शा कर लें?"

"नहीं, पैदल ही चलेंगे।"

"आप थक जाएंगे।"

"नहीं, फिक्र न करो। मैं ठीक हूं।"

कुछ देर में सड़क खत्म हुई। वे नहर के पुल पर पहुंच गए। गंदला पानी धीरे-धीरे बह रहा था और नहर के दोनों किनारों पर खड़े पेड़ों से झड़े हुए जर्द पत्ते मटियाले पानी में तैर रहे थे। उन जर्द पत्तों को देखते-देखते एकाएक उनकी आंखों के आगे एक धुंध-सी फैल गई। एक अदृश्य धुंध—जिसमें उनके बचपन की यादों के अनगिनत धुंधले चिह्न बिखरे हुए थे।

गर्मियों की जलती वीरान दोपहरों में वे अपने दोस्तों के साथ घंटों नहर में नहाया करते थे, तैराकी का मुकाबला करते थे और मछलियां

पकड़ते थे। मगर समय बीत गया। पुल के नीचे से न जाने कितना पानी बह गया। अब न बचपन था, न मछलियां और न तैराकी के मुकाबले। वह पानी, जो पुल के नीचे से बह गया है, कहां गया?

वे पलक झपकाए बगैर नहर के मटियाले पानी की सतह को घूरते रहे, जैसे अपने साथियों की सूरतें ढूंढ रहे हों या अपने बचपन का अक्स तलाश कर रहे हों, लेकिन पानी की सतह पर कोई चिह्न नहीं था, कोई तस्वीर नहीं थी। पानी पर बनी तस्वीरें बहरहाल मिट जाती हैं। उन्होंने उदासी से होठों पर जबान फेरी और थके कदमों से आगे बढ़े।

पुल से गुजरकर तिराहे पर पहुंचे। फिर दाईं ओर जाने वाली एक पतली-सी सड़क पर मुड़ गए। इस सड़क के एक ओर एक गोदाम की लंबी दीमक लगी दीवार थी, जबकि दूसरी ओर छोटे-छोटे कारखाने, कुछ दुकानें और उनके पीछे मकान थे। वे उत्सुकता और कौतूहल से दाएं-बाएं देखते रहे। कुछ आगे जाकर सड़क अपने आप दाईं ओर मुड़ गई थी। जब वे मोड़ पर पहुंचे तो एकाएक रुक गए।

नुक्कड़ पर एक विशाल दोमंजिला इमारत खड़ी थी। वे हैरानी से इमारत को देखने लगे।

"क्या बात है, चचा?" हैदर ने हैरानी से पूछा।

उन्होंने उंगली से इमारत की ओर इशारा किया--"भई हैदर, यहां तो भैंसों का बाड़ा हुआ करता था और बाड़े के एक कोने में गूलर का एक घना दरख्त भी था?"

"तो आपको याद है!" हैदर ने हंसकर कहा—"हां, आपका खयाल ठीक है। यहां खैराती की भैंसों का बाड़ा हुआ करता था, मगर कई साल पहले उसका इंतकाल हो गया। फिर उसके लड़के शबराती ने बाड़ा बेच दिया और शहर की एक नई बस्ती में चला गया। फिर बाड़ा खरीदने वालों ने यहां यह इमारत खड़ी कर दी। इमारत के पीछे चप्पलों का कारखाना है...!"

उन्होंने उदासी से सिर हिलाया—"जाने बेचारी वह चुड़ैल कहां गई होगी?"

"चुड़ैल!" हैदर ने चौंककर हैरानी से कयूम चचा को घूरा—"मैं समझा नहीं चचा, आप क्या कह रहे हैं?"

कयूम चचा हंसे। फिर कहने लगे—"यार, बाड़े में गूलर का एक पुराना घना पेड़ था। उसके बारे में एक कहानी मशहूर थी। कहा जाता था कि पेड़ पर एक चुड़ैल रहती थी। कुछ लोग उस चुड़ैल को देखने के दावेदार भी थे। उनके बयान के मुताबिक चुड़ैल बिल्कुल जवान उम्र की थी। उसकी आंखें बड़ी-बड़ी और अंगारों की तरह दहकती हुई थीं। उसकी जबान सुर्ख थी और जब वह हंसती थी, तो उसके मुंह से चिंगारियां-सी निकलती नजर आती थीं। उसके पांव उल्टे यानी नीचे पुश्त की ओर थे। उसे देखने वालों के बयान के मुताबिक वह एक छलावे की तरह थी। एक पल के लिए नजर आई, दूसरे पल गायब हो गई।"

हैदर विस्मित हुआ—"चचा, क्या वाकई यह कहानी सच थी? आखिर वह चुड़ैल थी कौन?"

"इस बारे में कुछ कहना मुश्किल है!" उन्होंने सोचते हुए कहा—"कई रिवायतें थीं। कुछ लोगों के बयान के मुताबिक वह चुड़ैल दरअसल एक ग्वाले की बेटी थी। उसके साथ कोई बहुत ही दर्दनाक घटना पेश आई थी। शायद उसके घर में किसी ने आग लगाई थी, जिसमें वह जिंदा जल गई थी। फिर वह चुड़ैल बन गई और गूलर के पेड़ पर रहने लगी...।"

हैदर ने कुछ क्षण बाद पूछा—"चचा, क्या आपने भी कभी उस चुड़ैल को देखा था...?"

कयूम चचा जरा खुशदिली से हंसे—"नहीं! मगर एक बार चूड़ियों की आवाज खुद सुनी थी...!"

हैदर फिर हैरान हुआ—"चूड़ियों की आवाज! क्या मतलब?"

"यार!" वे याददाश्त को कुरेदते हुए बोले— "मशहूर था कि उस चुड़ैल की कलाइयां चूड़ियों से भरी हुई थीं। ज्यादातर लोगों ने उसे देखा नहीं था, मगर इस बात के दावेदार बहुत थे, जिन्होंने उसकी चूड़ियों को खनक-सी सुनी थी। गर्मियों की सुनसान गर्म दोपहरों में, शाम के झुटपुटे में और रात की वीरानी में उसकी चूड़ियों की आवाज सुनाई देती थी। पहले चूड़ियों की खनक बिल्कुल स्पष्ट होती। फिर मद्धिम होती चली जाती और विलीन हो जाती। एक बार वह आवाज मैंने भी सुनी थी। दरअसल मैं अपने दोस्तों— सलीम और काशफ वगैरा के साथ गूलर तोड़ने आया था। अगरचे चुड़ैल का डर दिल में छाया रहता, उसकी सुर्ख आंखों, लपलपाती जबान और मुड़े हुए पैरों के खयाल से रोंगटे खड़े रहते— कहीं सचमुच सामना हो गया, तो क्या होगा? मगर हम बाज न आते। पके मीठे गूलरों का लालच हमें उकसाता और जब खैराती बाड़े में न होता, तो हम चुपके से अंदर चले जाते और गूलर तोड़ा करते। ऐसे ही एक मौके पर मैंने चूड़ियों की आवाज सुनी थी। मैं पेड़ के नीचे खड़ा था। जलती हुई दोपहर की खामोशी व सन्नाटा चारों तरफ फैला हुआ था। एकाएक मेरे कानों में एक हल्की-सी आवाज आई, जैसे किसी ने आह भरी हो। फिर यों महसूस हुआ, जैसे किसी ने कुछ कहा हो। एक मद्धिम-सी मादा सरगोशी, लेकिन कोई शब्द मेरी समझ में नहीं आया। उसके बाद कानों में चूड़ियों की आवाज आई—एक संगीत-भरी खनक, खन, खन, खन...! फिर वह आवाज धीरे-धीरे मद्धिम होती गई। यों महसूस हुआ, जैसे कोई अदृश्य हस्ती मेरे करीब से गुजरकर चलती हुई दूर चली गई हो। मैं कुछ देर जड़ता की हालत में खड़ा रहा और उस दिशा में देखता रहा, जिस तरफ आवाज गई थी। फिर सहसा डर छा गया। मेरा दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। दहशत से रोंगटे खड़े हो गए और मैं एकाएक भाग खड़ा हुआ। सलीम और काशफ ने मुझे आवाजें दीं, लेकिन मैंने मुड़कर नहीं देखा...!" कयूम चचा एक क्षण के लिए रुके। फिर सांस लेकर बोले—"उसके बाद फिर कभी मैं गूलर तोड़ने यहां नहीं आया...।"

वे चुप हुए, तो हैदर ने विस्मय से पूछा— "तो क्या सचमुच आपने चूड़ियों की खनक सुनी थी?"

उन्होंने फौरन ही जवाब नहीं दिया। कुछ क्षण सोचते रहे। फिर कहने लगे—"मैं यकीन से नहीं कह सकता। हो सकता है, मेरा वहम ही रहा हो... देखो, वह पेड़ भुतहा मशहूर था, और हमारे दिमागों में एक डर पहले से मौजूद था. ..इसलिए यह मुमकिन है कि मेरे वहम ने चूड़ियों की आवाज मुझे सुनवाई हो...!"

हैदर कुछ देर सोचता रहा फिर बोला—"लेकिन चचा, तो वह बहरहाल चुड़ैल थी। फिर आपने उसके लिए बेचारी का शब्द क्यों इस्तेमाल किया?"

कयूम चचा हंसे—"भाई, बात है तो अजीब-सी, लेकिन वाकई मुझे यह अच्छा नहीं

लगा कि वह गूलर का दरख्त अब यहां नहीं है। शायद इसलिए कि वह मेरे बचपन का हिस्सा था और बचपन की यादें बहुत अनमोल होती हैं। दूसरी बात यह है कि वह बेशक चुड़ैल थी, गूलर का वह पेड़ बहरहाल उसका घर था, जो उससे छीन लिया गया। न जाने घर छिन जाने के बाद वह कहां गई होगी?''

वे एकाएक रुक गए। क्षण भर सोचा। फिर लंबी सांस लेकर बोले—''हैदर, घर से वंचित होना बहुत यातनादायक होता है...!''

हैदर ने विस्मय से कहा— ''तो सिर्फ इस आधार पर आपको उस चुड़ैल से हमदर्दी महसूस हुई?''

वे मुसकराए— ''भई, कुछ भी हो। वह चुड़ैल भी तो आखिरकार मेरे बचपन का हिस्सा थी...!''

हैदर कुछ कहे बिना हैरानी से उनका चेहरा देखता रहा।

अपराह्न की जर्द धूप चारों ओर फैली हुई थी। रिक्शे, तांगे, और कारें दौड़ रही थीं। फुटपाथ पर लोगों का आना-जाना जारी था। वे विस्मय से इर्द-गिर्द का निरीक्षण कर रहे थे और हैरान हो रहे थे, मगर उन्हें कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। एक कसक-सी दिल में बैठी हुई थी। उदास अहसास! उनका ध्यान बार-बार भैसों के बाड़े और गूलर के पेड़ और उस चुड़ैल की तरफ जा रहा था।

वह पेड़ तो उस चुड़ैल का घर था। न जाने कितनी मुद्दत से वह वहां रहती थी! मगर घर उससे छिन गया। अब वह पेड़ वहां नहीं है, बल्कि अब वहां एक बुलंद इमारत खड़ी थी।

न जाने वह चुड़ैल बेघर होने के बाद कहां गई होगी? कहां उसने ठिकाना बनाया होगा? घर छिन जाने की यातना से कौन वाकिफ है? बेघर होने की पीड़ा कौन महसूस करता है?

''घर!'' उन्होंने धीरे से ठंडी सांस ली।

खदीजा का घर ज्यादा दूर नहीं था। जल्दी ही वे वहां पहुंच गए। तंग-सी गली में सन्नाटे का राज था। एक दीमक लगे, बदरंग दरवाजे पर पहुंचकर हैदर ने दस्तक दी। कदमों की आवाज सुनाई दी। कुंडी गिरी, फिर दरवाजा एक मद्धिम-सी चिड़चिड़ाहट के साथ खुला।

हैदर के पीछे-पीछे वे अंदर दाखिल हुए। छोटा-सा आंगन था। उसके बाद सेहन। जिस लड़की ने दरवाजा खोला था, वह हैरानी से उन्हें देख रही थी। सामने सेहन में बुढ़िया खड़ी थी। धान-पान-सा बदन। निकलता हुआ कद। चेहरे पर बीते हुए माह व साल ने लकीरों का जाल बुन रखा था। बाल खिचड़ी हो गए थे।

वे फौरी तौर पर पहचान नहीं पाए, मगर फिर याददाश्त ने आवाज दी। बरसों पहले की एक मनमोहनी-सी सूरत कल्पना में उभरी और उनकी आंखों ने उस बूढ़े चेहरे में खदीजा के नैन-नक्श तलाश कर लिए। खदीजा... जिसे उन्होंने कोई तीस बरस पहले आखिरी बार देखा था। उस समय वह खिले हुए एक शादाब फूल की तरह थी, मगर वह फूल मुरझा गया था। वक्त ने उसकी सुंदरता, प्रफुलता और महक छीन ली थी, जैसे खुद उनसे वक्त ने सब कुछ छीन लिया था। रंग, उमंगें, और हौसले और चेहरे पर जाल बुन दिया था—लकीरों का जाल कि हर लकीर एक कहानी थी—गए दिनों की कहानी, जो निराशा और पछतावे से इबारत थी। वे उदास नजरों से अपनी बरसों से बिछड़ी बहन को देखते रहे।

एकाएक हैदर ने कहा— ''खाला, पहचानिए तो यह कौन हैं?''

खदीजा दुविधा की अवस्था में उन्हें घूर रही थी। हैदर की आवाज सुनी, तो एक बार फिर गौर से देखा। फिर एकाएक उसके चेहरे पर अति विस्मय के चिह्न प्रकट हुए, जैसे उसका वजूद अंदर ही अंदर उथल-पुथल होकर रह गया हो। फिर वह अकस्मात आगे बढ़ी और भावावेश से अभिभूत आवाज में चीखी— ''अरे भैया कयूम...!''

कई मिनट तक खदीजा का कृश शरीर खुश्क पत्ते की तरह उनकी बांहों में कांपता रहा। कई मिनट तक वे अपने धड़कते दिल को संभालने की कोशिश करते रहे। फिर उन्होंने हौले से खदीजा को खुद से अलग किया।

''मत रो...!''

खदीजा ने आंसू पोंछे— ''जानते हो, कितनी मुद्दत के बाद आए हो?''

''हां!'' उन्हें याद था।

चालीस साल बीते कि उन्होंने घर को अलविदा कहा था। पहले लंदन में घर बनाया। फिर कुछ साल कनाडा में बिताए, लेकिन कनाडा की बर्फ अच्छी नहीं लगी, तो वापस बरतानिया आ गए।

जब गए थे, तो जवानी रगों में आग बनकर दौड़ती थी। दिल उमंगों, भावनाओं और जोश से भरा हुआ था। कुछ कर दिखाने की तमन्ना रग-रग में समाई हुई थी।

कुछ माहौल का असर था, कुछ उनका अपना चिंतन का ढंग था कि धीरे-धीरे उन्होंने स्वयं को बिल्कुल बदल डाला। जिंदगी का वह चोला, जो वतन से पहनकर आए थे, उतार फेंका, और एक नया रूप धारण किया। पहले एक खूबसूरत लंबा-चौड़ा मकान बनाया। फिर उसे पश्चिमी ढंग पर सजाया। फिर घर के बाहर चमकती-दमकती कीमती कार खड़ी की। फिर उसूल और जाबिते बनाए, जो पश्चिम के रंग में रंगे हुए थे। सुबह आठ बजे के बाद नाश्ता नहीं मिलेगा। शाम को ठीक सात बजे खाना, जिसे वह 'टी' कहना ज्यादा पसंद करते थे। धूम्रपान के लिए पिछला कमरा आरक्षित था। चाय या कॉफी ड्राइंग-रूम में पीने की कतई मनाही थी। बच्चे सिर्फ अंग्रेजी में बात करते, तो उन्हें गर्व और खुशी का अहसास होता। सुबह सबसे पहले शेव करना बहुत जरूरी था। टाई और सूट के बिना वे कभी बाहर नहीं गए थे। कमीज, पाजामा पहनकर बाहर निकलना उनके ख्याल में बदतमीजी और गंवारपन था। उन्हें यों महसूस होता, जैसे वह बिना लिबास के बाहर चले गए हों।

अगर कभी बाजार में कोई एशियाई कमीज या कुरते-पाजामे में नजर आ जाता, तो उन्हें तीव्र क्षुब्धता होती। जिल्लत का एक अहसास उन्हें घेर लेता। यों लगता जैसे न सिर्फ उनकी, बल्कि पूरे एशिया की तौहीन हो गई हो। साथ ही अति विस्मय भी होता कि कई लोग कितने जाहिल, गंवार और बेहिस होते हैं! लोगों को अगर अपना नहीं, तो कम से कम अपनी कौम और मुल्क का खयाल करना चाहिए।

अपने इन खयालों और विशिष्ट जीवन-पद्धति के आधार पर अपने परिचितों में वे खासे बद-दिमाग मशहूर हो गए थे, लेकिन उन्हें आम राय की कोई परवाह नहीं थी, क्योंकि वे खुद को औरों से अधिक सभ्य और ऊंचे दर्जे का महसूस करते थे— प्रतिष्ठित, उसूल वाले और शिष्ट। चूंकि वे अपने आप से पूरी तरह आश्वस्त थे, इसलिए दूसरों की राय की परवाह क्यों करते!

शुरू के दस बरसों में वह तीन बार स्वदेश आए थे, लेकिन तीनों ही बार खुश नहीं थे। उन्हें अपने शहर की हर वस्तु नापसंदीदा महसूस हुई थी। धूप, गर्मी, गर्दो-गुबार, मक्खियां, और लोग! जहां जाते, नाक पर रूमाल रखे रहते। रिश्तेदारों के यहां जाते, तो खाने-पीने में तकल्लुफ करते। अक्सर रिश्तेदारों से मुलाकात ही नहीं की। जो माहौल उनका इंग्लैंड में था, उसमें रत्ती भी अंतर नहीं आने दिया। चप्पल नहीं पहनी कि गर्दो-गुबार से पांव गंदे हो जाएंगे। नाश्ता इंग्लिश ढंग का करते। बाहर निकलते, तो कम से कम कमीज-पतलून में। सोते 'पलंग-सूट' में और सुबह गाउन पहनकर बाथरूम जाते। उन्हें बेहद कोफ्त होती, जब वे देखते कि लोग जिन कपड़ों में सारा दिन बिताते हैं, उन्हीं कपड़ों में सो भी जाते हैं। कितनी बेहूदा बात है! बेहद गंवारपन! आखिर ऐसा क्योंकर हो सकता है? कुछ तो उसूल और सलीका होना चाहिए, ताकि पता चले कि आदमी आदमी है और सभ्य है।

आखिरी बार वे अम्मा के इंतकाल पर आए थे और सिर्फ दो सप्ताह ठहरकर वापस चले गए थे। उसके बाद फिर आने का मौका नहीं मिला। कुछ तो नौकरी का जंजाल, कुछ यह कि उनके दिल में आने की इच्छा भी नहीं थी और कुछ यह सब कि अब अम्मा नहीं थीं। बाप और बड़ी बहन और उसका शौहर पहले ही अल्लाह को प्यारे हो चुके थे। इसलिए अब अपने मुल्क के चक्कर लगाते, तो किसलिए और किसके लिए! इसलिए तीस साल बीत गए और उन्होंने स्वदेश का रुख नहीं किया। उस दायरे के अंदर रहकर तीस साल का समय बिता दिया, जो उन्होंने स्वयं बनाया था, लेकिन उन्हें कभी किसी बात का मलाल नहीं हुआ था। किसी कसक ने नहीं घेरा। अपना शहर, उसकी गलियां, और रिश्तेदारों के चेहरे अगर कभी भूले-भटके यादों में उभरते भी, तो उन्हें किसी कमी का अहसास नहीं होता। कभी ऐसी कोई खलिश दिल में नहीं उभरती कि उन्होंने कुछ खोया है। उनका खयाल था कि उन्होंने सिर्फ पाया है– एक खूबसूरत जिंदगी, सुख, संपन्नता और उच्च-पद!

समय बीता। दोनों बच्चों की शादियां हुईं। लेकिन शादियों में उनकी पसंद और रजामंदी का कोई दखल नहीं था, जिससे उन्हें कुछ मलाल हुआ। लड़के ने एक विलिश लड़की से शादी रचाई, जो कालेज में उसके साथ पढ़ती रही थी और कई साल से बाकायदा उसकी 'गर्ल-फ्रेंड' थी। लड़की के लिए उन्होंने अपनी एक रिश्ते की बहन के लड़के का रिश्ता अरसे से पंसद कर रखा था। बहन विधवा थी। सिर्फ एक ही लड़का था उसका। उनका खयाल था कि लड़का इंग्लैंड आएगा, तो घर-दामाद बनकर रहेगा। यों उनकी लड़की उनके पास ही रहेगी। जब यह बात उन्होंने बीवी से कही, तो उसने नाक-भौं चढ़ाई–"भूल जाओ इस बात को!"

बीवी का एक मौसेरा भाई था, जो कई साल से अमरीका में रह रहा था। उसका लड़का बीवी को बहुत पसंद था। इसलिए नहीं कि लड़के में कोई खूबी थी, बल्कि सिर्फ इस आधार पर कि वह उसके भाई का लड़का था। इस मौके पर उन्हें पहली बार इस फासले का अंदाज हुआ, जो उनके और बीवी-बच्चों के बीच था। खुशफहमी का एक पर्दा पड़ा था, जो बहुत फरेब-भरा था कि उस अदृश्य पर्दे के आधार पर बीवी, बच्चे बहुत करीब नजर आते थे, लेकिन जब वह पर्दा सरका तो फासला स्पष्ट हो गया।

बीवी ने उनकी पसंद और फैसले को काबिले-ऐतबार नहीं समझा। बच्चों ने उन्हें बिल्कुल नजरअंदाज कर दिया, मगर उन्होंने कुछ ज्यादा प्रतिरोध नहीं किया। यह भी शायद उनके दिमाग की 'पश्चिमी' सोच का एक रुख था। बच्चों ने अगर अपनी जिंदगी के फैसले खुद कर दिए हैं, तो इसमें क्या हर्ज है! बच्चे बालिग हैं और यह उनका हक है।

फिर एक के बाद दूसरी शादी हुई। लड़की ने अमरीका का रुख किया। लड़का कार्डफ चला गया– एक तो इस आधार पर कि वहां उसे एक बेहतर नौकरी मिल गई थी और दूसरे यह कि वहां उसकी बीवी के मां-बाप रहते थे।

अब बुढ़ापा सिर पर था। बालों में चांदी उतर रही थी और जिंदगी एक नया रूप धारण कर रही थी। उसके रूप में रंग भी कम थे और रोशनी भी...। जिस दायरे में जिंदगी भर रहे थे, वह अब तंग हो रहा था, और उन्हें महसूस हो रहा था कि उस दायरे में वे अकेले हैं। उन्हें अपनी बीवी से पहले भी कुछ ज्यादा लगाव नहीं था। बीवी भी उन्हें नजरअंदाज करती थी। बच्चों ने अपने घर बना लिए तो फासला और बढ़ा। बीवी कभी कार्डफ चली जाती थी, कभी अमरीका का रुख करती। वे अकेले रहते। यह मकान, जिसे उन्होंने बड़े चाव से बनाया, खाली नजर आता। दरो-दीवार भांय-भांय करते। तनहाई चप्पे-चप्पे पर सांप की तरह फन काढ़े बैठी रहती और उन्हें डसती रहती।

उस तनहाई में गए दिनों की यादें अतीत के शून्य से उतरकर उनके इर्द-गिर्द आ बैठतीं। रिश्तेदार, दोस्त, गली-कूचे और घर...उनका घर...वे आंखें बंद कर लेते और दिल को...डूबते दिल को संभालने का असफल प्रयत्न करते।

वे अपना निरीक्षण करते। अपनी बीती जिंदगी पर नजर डालते। आखिर कहां कमी है? अगर कोई बात गलत है, तो क्या है? उन्होंने तो एक भरपूर और सफल जिंदगी बिताई है! सभी कुछ तो है उनके पास! पैसा, इज्जत, कार और एक खूबसूरत मकान, फिर यह कसक क्यों? यह उलझन किसलिए? सब कुछ होते हुए भी किसी कमी का अहसास क्यों? वह दरो-दीवार पर नजर डालते और उदास हो जाते, लेकिन समझ न पाते कि हर वस्तु कुछ अजनबी-सी क्यों लगती है?

कभी-कभी उनका दिल घबराता। एक दहशत-सी होती और वह घबराकर घर से निकल खड़े होते। सड़कों पर मारे-मारे फिरते। फिर भी घुटन और वहशत में कमी न होती। कमी का अहसास और एक अनजानी दुविधा उन्हें घेरे रहती। ऐसे ही एक मौके पर वे इधर-उधर भटककर वापस आए। गली में सन्नाटा था। शाम का अध-अंधेरा, वीरानी और तनहाई चारों ओर फैली हुई थी। अपने मकान के दरवाजे पर पहुंचे, तो एकाएक झिझककर रुक गए। दुविधा की हालत में होठों पर जबान फेरी और अपने मकान के दरवाजे को यों गौर से देखा, जैसे पहचानने की कोशिश कर रहे हों।...

खदीजा और उस्मान से मिलकर निकले, तो तीसरे पहर की धूप मंद पड़ने लगी थी। सड़क पर पहुंचकर हैदर ने एक बार फिर सवारी की तजवीज पेश की, मगर उन्होंने इंकार कर दिया।

"मगर चचा, आप थक गए होंगे?" हैदर ने आग्रह किया।

"हां, थक तो गया हूं! "उन्होंने जवाब

दिया– "मगर मेरा खयाल है कि कब्रिस्तान यहां से ज्यादा दूर नहीं है।"

"कब्रिस्तान?"

उन्होंने मुसकराकर हैदर को देखा– "भई, अब यहां तक आए हैं, तो जरा कब्रिस्तान भी हो लें। मैं तो मुद्दत से वहां नहीं गया हूं। जरा फातिहा पढ़ लूं। फिर वापसी में सवारी कर लेंगे।"

"अच्छी बात है...!"

वह सड़क भी हस्बे-मामूल आबाद थी। दोनों ओर दुकानों और चाय-खानों में रौनक नजर आ रही थी। वे एक-एक शै को ध्यान से देखते हुए चलते रहे। अब वे खासे थक गए थे। टांगों में थकन के कारण दर्द होने लगा था। सांस भी कुछ भारी हो गई थी, तो भी उन्होंने परवाह नहीं की। एक के बाद दूसरा कदम उठाते रहे। फासला ज्यादा नहीं था। कुछ ही देर में वे कब्रिस्तान के करीब पहुंच गए।

कब्रिस्तान के पास भिखारियों की एक बस्ती हुआ करती थी– टाट और सरकंडों से बनी हुई छोटी-छोटी झोंपड़ियां! मगर वह बस्ती अब वहां नहीं थी। झोंपड़ियों की जगह कुछ गोदाम और चंद-एक दुकानें और मकान बन गए थे। वे एकाएक रुक गए।

"क्या बात है, चचा?" हैदर ने पूछा।

"यार, इस जगह तो फकीरों की एक बस्ती हुआ करती थी?"

"हां!" हैदर ने कहा– "मगर वह बस्ती तो कब की खत्म हो गई!"

"तो उन बेचारे फकीरों से भी उनके घर छिन गए!" उन्होंने खेद से कहा।

हैदर ने चौंककर उनके चेहरे पर नजर डाली और देर तक देखता रहा, मगर जबान से कुछ नहीं कहा!

कब्रिस्तान! खामोशी का शहर! जहां आखिरकार हर जीवात्मा को जाना पड़ता है। उन्हें भी, जो कदमों में सिर झुकाते हैं, और उन्हें भी जो झुके हुए सिरों को ठोकर लगाते हैं।

उन्होंने कब्रों के दरम्यान खड़े होकर दूर तक नजर डाली, जहां तक निगाह गई, कब्रें ही कब्रें नजर आईं। कच्ची, पक्की, छोटी, बड़ी मिट्टी के तोदे! कब्रिस्तान में जगह-जगह छोटे-बड़े पेड़ खड़े थे और कहीं-कहीं झाड़ियां भी नजर आ रही थीं। कई झाड़ियों में छोटे-छोटे जर्द फूल खिले हुए थे, जो कब्रिस्तान की वीरानी और उदासी में और इजाफा कर रहे थे। पूरे कब्रिस्तान की हालत खासी खस्ता थी। सफाई बिल्कुल नहीं थी। कूड़ा-कर्कट इधर-उधर बिखरा हुआ था। कब्रों के बीच कोई तरतीब और सलीका नहीं था। रविशें कहीं सीमित और कहीं नहीं थीं। अक्सर कब्रें शिकस्ता हालत में थीं और कई कच्ची कब्रों की खस्तगी और तरतीब और सफाई से विहीन होने ने और भी उदास कर दिया।

उन्होंने बरतानिया के कब्रिस्तान देखे थे, जो अपनी सफाई, तरतीब और सजावट के कारण कब्रिस्तान से ज्यादा पार्क नजर आते थे। आखिर ऐसा क्यों है कि हम कोई भी काम सलीके से नहीं कर सकते! बेतरतीबी हमारी जिंदगी का अनिवार्य अंग क्यों है?

वे उदास नजरों से कब्रों को देखते रहे और संभल-संभलकर आगे बढ़ते रहे। सावधानी लाजिम थी। कहीं से ऐसा न हो कि किसी कब्र पर पांव पड़ जाए और कहीं कब्र की रूह को तकलीफ पहुंचे। बचपन से ही उन्हें कब्रों के सत्कार का उपदेश दिया गया था। यही वजह है कि वे जब भी कब्रिस्तान जाते, कोशिश करते कि अनजाने में भी कब्रों का अपमान न होने पाए।

चंद मिनट बाद वह कब्रिस्तान के उस हिस्से में जा पहुंचे, जहां उनके खानदान के प्राणी दफन थे।

एकाएक हैदर ने कहा– "चचा, आप कितने अरसे बाद कब्रिस्तान आए हैं?"

"पिछली बार तीस साल पहले आया था...!" उन्होंने गौर करते हुए जवाब दिया– "इस अर्से में काफी तब्दीलियां हो गई हैं। कब्रिस्तान का यह हिस्सा अब काफी भर गया है। जब पिछली बार आया था, तो कई व्यक्तियों ने हवाई-अड्डे पर मुझे खुश-आमदीद कहा था। इस बार वे एअरपोर्ट पर मौजूद नहीं थे, क्योंकि अब वे यहां आराम कर रहे हैं...!" रुके, फिर आगे बोले– "मगर, भई हैदर, यह तो अच्छी बात नहीं है...!"

"क्या?"

"तुम देख ही रहे हो कि यहां सफाई बिल्कुल नहीं है। अक्सर कब्रों की हालत भी खस्ता है। इसके अलावा किसी भी कब्र पर फूल या अगरबत्ती नजर नहीं आ रही। लगता है कि कब्रों की देखभाल के लिए कोई यहां आता ही नहीं!" उनके लहजे में तल्खी घुली हुई थी।

हैदर शर्मिंदा हो गया– "असल में कयूम चाचा, बात यह है कि काम-काज और दूसरी व्यस्तताओं के कारण...!"

"फिजूल बात है यह!" उन्होंने बात काटकर कर्कशता से कहा–"अगर अहसास हो और दिल में जज्बा भी हो, तो आदमी किसी न किसी तरह वक्त निकाल ही लेता है। लेकिन लोग दुनियादारी में इतने डूब गए हैं कि उन्हें 'इन' सबका कोई खयाल ही नहीं है...!"

उन्होंने उंगली से कब्रों की ओर इशारा किया–"कम-अज-कम जुमा (शुक्रवार) के दिन तो किसी न किसी को आना ही चाहिए।"

हैदर ने कुछ नहीं कहा। पशेमान नजरों से उन्हें देखता रहा।

वे फिर कब्रों की ओर उन्मुख हुए।

कब्रिस्तान का यह हिस्सा उनके खानदान के लिए आरक्षित था। पिछले डेढ़ सौ साल में खानदान के जो व्यक्ति इस जहाने-फानी से रुखसत हुए थे, वे इस हिस्से में आराम कर रहे थे। उनके परदादा, दादा, मां, बाप और अन्य रिश्तेदार और उनकी बहन और बहनोई, जो फसादों में कत्ल कर दिए गए थे। वे दर्दनाक नजरों से उन सब कब्रों को देखते रहे और उनके दिल में एक शून्य-सा फैलता चला गया, जो उदासी, वीरानी और नश्वरता के अहसास से परिपूर्ण था।

कितनी अजीब बात है! न समझ आने वाले और हैरतनाक ये सब लोग, जो उन आरामगाहों में दुनिया की सभी यातनाओं से बेपरवाह होकर सो रहे हैं, कभी इस धरती पर मौजूद थे। चलते-फिरते थे। जीवन-कार्य निपटाते थे। अपने बच्चों के लिए परिश्रम करते थे। अपने-अपने हिस्से के दुख भोगते थे और खुशियां समेटते थे, मगर अब वे यहां नहीं हैं! कैसा विस्मयकारी रहस्य है! कभी थे, अब नहीं हैं। यह हस्ती और नेस्ती क्या है? अगर यह सब कुछ यों न होता, तो क्या होता?

पृष्ठ 46 पर जारी

कविता की यथार्थवादी सौंदर्य चेतना

कविता ने अपने उत्तर आधुनिक समय में आते-आते विभिन्न आंदोलनों, प्रवृत्तियों आदि को अपने साहसिक प्रयास से पार किया है और आज यथार्थ की पृष्ठभूमि पर फल-फूल रही है। यहां से वह समाज में घटित प्रत्येक घटना पर पैनी दृष्टि गड़ाए हुए है तथा उसको उजागर करने में तनिक भी संकोच नहीं करती है। आज कविता ने अपने लिए ऐसी उर्वर भूमि तलाश कर ली है, जिसमें उम्मीद के बीज स्फुटित होकर साहित्यिक पृष्ठभूमि को गमका रहे हैं। आज की कविता की सौंदर्य चेतना पर **रमेश प्रजापति**

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध विशेषकर 1980 के बाद की कविता और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों की कविता का बारीकी से अध्ययन करने के उपरांत यह बात मुख्यतः सामने आई है कि आज जिस परिवेश में कविता लिखी जा रही है उसका मूल स्वर लोक जीवन के तमाम संघर्षों को नैतिकता, ईमानदारी और भाव प्रवणता के साथ अभिव्यक्त करना है। व्यक्ति के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों को कविता यथार्थ की पृष्ठभूमि पर सुंदर चित्रण करने में सफल हुई है। आज कविता को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की ढेरों चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। दिन-प्रतिदिन की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी घटनाओं के प्रति कविता सचेत दिखाई देती है। समय परिवर्तन के साथ-साथ कविता के परिदृश्य में तो बदलाव आया ही है, साथ ही उसकी यथार्थवादी सौंदर्य चेतना भी विकसित हुई है। आज कवि अपने समय की परिस्थितियों से जूझता हुआ भी आस्थावान है। वह कविता के सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्यों के प्रति विश्वास बनाए हुए है। परिणामस्वरूप कविता सामाजिक चेतना के साथ-साथ अपने सौंदर्यबोध को स्वयं रच रही है।

हिंदी कविता विभिन्न काव्य-आंदोलनों से गुजरती हुई आज जिस भाव-भूमि पर खड़ी है, वहां वह अपनी सौंदर्य चेतना और यथार्थबोध के साथ इस बाजारवाद और टेक्नोलॉजी के विकट माहौल में गहरे उतरकर समाज के प्रति, मानवीय मूल्यों के प्रति अधिक सजग है। यह प्रगतिशील चेतना और जनवादी मूल्यों से ओत-प्रोत है। यह बदलते मिजाज की कविता है जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियों का वास्तविक प्रतिबिंब झलकता है। यह आम आदमी की पीड़ा, सुख-दुख, चिंता, आशा-निराशा, संवेदना आदि सच्चाइयों का आईना है। यह सामाजिक न्याय और मनुष्य विरोधी गतिविधियों के प्रति अधिक चौकन्नी है अर्थात इसका स्वरूप यथार्थ के अधिक नजदीक है।

यूरोपीय पुनर्जागरण के पश्चात तमाम पुरानी मान्यताएं एवं धारणाएं धूलि-धूसरित हो रही हैं। उनकी जगह नई मान्यताएं धीरे-धीरे कविता में अपना स्थान बना रही हैं, जिससे कविता के कथ्य एवं शिल्प के परिवर्तन के कारण उसके रूप विधान में भी बदलाव आना स्वाभाविक है। भूमंडलीकरण के इस दौर में कविता प्रत्येक घटना को बड़ी सजगता से देख रही है 'कविता बीसवीं सदी पर होते पटाक्षेप को देख रही है। यूरोपीय पुनर्जागरण की तीन सौ साल पुरानी तमाम धारणाएं धूल चाट रही हैं। रक्तरंजित आकांक्षाओं और उन्माद के बीच नए-नए शब्द, सिद्धांत और प्रतिपादन रोज जन्म ले रहे हैं, रोज मर रहे हैं। केंद्र सरक रहे हैं। राष्ट्र, प्रगति, विज्ञान, पूंजी और तर्क के पुराने मिथकों का पानी उतर रहा है, नए मिथक गढ़े जा रहे हैं। भविष्यवाद के इन मिथकों के पीछे छिपी हिंसा, वर्चस्व और शोषण की शक्लों को कविता पहले से ज्यादा साफ देख रही है।' '

आज वैश्वीकरण, परमाणु अस्त्रों और बाजारवाद की अंधी दौड़ में समस्त संसार शामिल होता जा रहा है। फलस्वरूप हिंसात्मक गतिविधियां बढ़ रही हैं। राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति खतरे में है परंतु इस संकट-काल में कविता निडरता और साहस के साथ आगे बढ़ रही है। आज कविता को अपने समय के आंतरिक कलहों और द्वंद्वों का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे में कविता अपने सरोकारों के साथ मानव-हितों की रक्षा करते हुए निरंतर गतिशील है।

विश्वंभरनाथ उपाध्याय कहते हैं कि समकालीन हिंदी कविता में जो हो रहा है, (बिकमिंग) का सीधा खुलासा है। इसे पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, तड़पते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है। आज काल क्षण की कविता नहीं, काल-प्रवाह आघात और विस्फोट की कविता है।

समकालीन कविता कालवाची कविता है। यह अपने कालखंड में घटित घटनाओं को हमारे सम्मुख रखती है। इधर हाल में विदर्भ के किसानों की आत्महत्याएं, नंदीग्राम, सिंगूर में किसानों पर हुए विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज) के नाम पर अत्याचारों, आतंकित कर देने वाली गतिविधियों आदि का विरोध कविता पुरजोर तरीके से कर रही है। इस नई आर्थिक नीति एवं भूमंडलीकरण का किसानों एवं मजदूरों पर विकास के नाम पर विपरीत असर पड़ रहा है। वे अपनी जमीन से वंचित होते जा रहे हैं। उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति बद से बदतर होती जा

रमेश प्रजापति युवा कवि और समीक्षक हैं।

रही है। साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के इस समय में सामाजिक ढांचा असंतुलित हो रहा है, उसमें अनेक विसंगतियों, विडंबनाओं और कुरूपताओं का वर्चस्व हो रहा है। समकालीन कविता इन चुनौतियों को स्वीकारते हुए उनका खुला विरोध करने में तनिक भी संकोच नहीं करती। हाल ही में रवींद्र भारती की ताजातरीन कविता आज के इस संकट-काल में अपनी बेबाक शैली से प्रभावित करती है। इसमें किसानों एवं मजदूरों पर हुए अत्याचारों के विरुद्ध आवाज है और नंदीग्राम, सिंगूर के लोगों के प्रति सहानुभूति भी–

वे इसी नंदीग्राम और सिंगूर के लोग थे
वे लोग इसी मिट्टी-पानी के थे
उन्होंने सिर्फ यह बताने की कोशिश की
कि नंदीग्राम और सिंगूर कोई रूमाल नहीं
जो चाहे जेब में लेकर चलता बने।[2]

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। उसके चारों तरफ संबंधों का मोहजाल फैला हुआ है। आज व्यक्ति अपने निजी हितों को अधिक महत्त्व दे रहा है। परिणामस्वरूप समाज में अमानवीयकरण की समस्या प्रबल होती जा रही है। ऐसे में समाज की प्रत्येक गतिविधि के प्रति कविता की जवाबदेही बनती है और उसकी जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है। कुंवर नारायण के शब्दों में–'अमानवीयकरण की समस्या जितनी जटिल है, उसका हल उतना आसान नहीं है, जितना आदर्शवादी मान लेते हैं। यह सरलीकरण भी एक तरह का पलायन है उन समस्याओं से जिन्हें सचाई से समझना अक्सर हमें अपने विश्वासों के बावजूद बेहद बेचैन कर दे सकता है। इस समय की कविता जो आज की दुनिया में आदमी की स्थिति को बिल्कुल बेलौस और निष्पक्ष होकर चित्रित करती है, हमें आश्वस्त ही नहीं एक खास तरह विचलित भी करेगी। कविता मानवीय मूल्यों का पक्ष है और किसी भी तरह के अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया, चाहे वह सामाजिक और व्यावसायिक अनैतिकता हो, चाहे व्यवस्था की हृदयहीन जकड़। यह चिंता एक खास तरह से आज की कविता की जिम्मेदारियों और संभावनाओं को बढ़ाती भी है।'[3]

बीसवीं सदी ने क्रांति, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, स्वतंत्रता के नाम पर भयानक अत्याचार, दमन, युद्ध, नरसंहार, विनाशकारी स्थितियां देखी हैं। *सुधा* में लिखते हुए छायावादी कवि निराला ने कहा था–'भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता, सीमित भाव और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है वह अस्तित्व को कायम रखने की जगह नष्ट ही कर रही है अस्तित्व तो व्यक्ति ही से रह सकता है। यहां सनातन व्याप्ति है ही।'

कविता ने अपने वर्तमान काल में जिन वर्तमान प्रेरक स्रोतों के कारण अपने विचार, अपनी भाषा-शैली एवं अपने स्वरूप में परिवर्तन किया है, उनमें मुख्यतः सामाजिक परिवेश में परिवर्तन, राजनीति में बढ़ता अपराधीकरण, आर्थिक संकट के कारण आम आदमी की विडंबनाएं, औद्योगीकरण के नाम पर किसानों को भूमि से वंचित करना, यूरोपीय समुदाय का भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पर मूक हमला इत्यादि हैं।

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ वर्षों से ऐसी घटनाएं हो रही हैं, जिनका सीधा प्रभाव व्यक्ति पर पड़ रहा है और साथ ही साहित्यिक परिवेश में भी बदलाव आया है, जैसे–सोवियत संघ का विध्वंस, अमरीका-इराक युद्ध, बाबरी मस्जिद ध्वंस, नक्सलवादी गतिविधियों में बढ़ोतरी, स्त्रियों तथा दलितों का शोषण आदि यथार्थवादी घटनाओं ने कविता के सरोकारों को विकसित किया है। सुविख्यात यथार्थवादी आलोचक एवं कवि हृदय डा. विश्वनाथ त्रिपाठी 'इराकी बच्चे' कविता में इराक के बच्चे की मनोदशा का ऐसा सुंदर चित्रण करते हैं जिसमें अमेरिका द्वारा इराक पर आक्रमण करने पर इराक के ध्वस्त घरों के मलबे पर बैठा बच्चा विध्वंस के बीच भी बड़ी तल्लीनता से सृजन कर रहा है। वह बुश को नहीं जानता। बम विस्फोटों की ध्वनि उसके लिए लोरी का कार्य करती है–

इराकी बच्चे नहीं समझ पाएंगे कि
बुश किसी आदमी का नाम हो सकता है
इराकी बच्चे हर जिंदा आदमी को
सद्दाम कहते हैं
इराकी बच्चा बम से ध्वस्त मकान के मलबे पर बैठकर
टूटे खिलौने जोड़ रहा है।[4]

ऐसे बेजोड़ यथार्थ चित्रण ही आज की कविता की जैविकता हैं। यह शक्ति के वर्चस्ववाद के विरुद्ध खड़ी दिखाई देती है। यह आदमी और समाज की नैतिकता को निर्धारित करने में सहयोग करती है। भूख, गरीबी, लाभ-हानि, कपट आदि विद्रूप स्थितियों के बीच यह समकालीन समाज में मौजूद विसंगतियों को बड़ी तत्परता के साथ उजागर करती है। यह कविता सर्वहारा वर्ग की कविता है। इसमें उनका आक्रोश, पीड़ा, छटपटाहट, आशा-निराशा, आचार-विचार, प्रतिरोध, जीवन-संघर्ष तथा आत्मसंघर्ष को समकालीन कवियों ने बड़ी सहजता से देखा और कविता में उनकी विडंबनाओं को उठाया है। ऐसे जनवादी सरोकार आज की कविता के यथार्थ जैविक घटक हैं, और उसकी सौंदर्य चेतना भी। 'कविता में आजकल प्रखर कविताजन्य संकेत है जो धीरे-धीरे बहुत कुछ को अपने में समाहित करके अपनी सीमाएं बढ़ाता रहता है और यथार्थ समकालीन कविता का जैविक घटक है, जिसमें शब्द और जीवन का सर्जनात्मक संतुलन रहता है।'[5]

'आज की कविता के माध्यम से हम उत्तर-सोवियत विश्व में डेढ़ दशक के भीतर सतह के नीचे से उभरने वाली आहटें सुन सकते हैं। जीवन की वास्तविकताएं और उनके प्रति बौद्धिक या भावात्मक प्रतिक्रिया लगभग साथ चलती है। जिन दिनों समाजवाद का ध्वंस और सांप्रदायिक उन्मेष हुआ था उन दिनों कविता भी जड़ों की ओर चली गई थी। पारिवारिकता और अंतरंगता में सुरक्षित हो गई थी। आज लेटिन अमरीका में ही नहीं, एशिया में भी अमेरिकी प्रभुत्व और भूमंडलीकरण के स्वर संकल्पबद्ध हो रहे हैं।'[6] आज हिंदी कविता पर इन विघटनकारी परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। मूल्य-विमुख समाज में जीवन की विविधता और उनमें निहित अंतर्द्वंद्वों, संघर्षपूर्ण स्थितियों और परिवर्तन की कोशिशों और आकांक्षाओं को उद्घाटित करती हुई कविता समाज में बदलाव तीव्र गति से नहीं, बल्कि मंद गति से लाएगी और व्यक्ति के जीवन में भी परिवर्तन अवश्य लाती है, ऐसा विश्वास कात्यायनी की इस कविता में झलकता है–

कविता तुरत-फुरत कुछ कर नहीं गुजरती
यूं ही वह तुरंत लाख कंठों से

गीत बनकर नहीं फूटती
वह धीरे-धीरे जिंदगी में
कहीं कुछ संवारती है।

आज की कविता ने नए दृष्टिकोण के साथ सौंदर्यबोध के नए प्रतिमान तैयार किए हैं। इस सौंदर्यबोध से उत्तर-आधुनिक कविता के परिदृश्य में परिवर्तन सहज है, जिसने कविता को नई दिशा दी है। डा. गोविंद रजनीश ने इस कविता को सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों का ऐसा व्यंग्यात्मक खाका कहा है, जो मन को छीलता है। ये कविताएं वामपंथी भी हैं और व्यवस्था विरोधी भी। इनमें विद्रोह का नकली बाना न होकर संवेदनाओं और धड़कनों की सही पकड़ है। आज कविता नैसर्गिक जीवन बोध के साथ मनुष्य से रागात्मक संबंध बनाए हुए है। इसका संवेदनशील और भाव-प्रवणता से भरा स्वर सहृदय को द्रवित करके उसे विचार-मुद्रा में खड़ा कर देता है। कविता ने परंपरागत रूप-विधान को तोड़ा है। भाषा को नया संस्कार दिया है। व्यक्तित्व से अधिक नैतिक जिम्मेदारियों को समझा है। यह कविता अनुभवयुक्त विचार प्रधान कविता है। डा. रमेश कुंतल मेघ की इस संबंध में यह धारणा है कि वर्तमान जीवन की विसंगतियों को उखेड़ते हुए कवियों ने जो कविता गढ़ी है उसमें अनुभव पर आधारित विचार केंद्र में है।

ऐसा नहीं कि समकालीन कवियों ने केवल विचार प्रधान कविताएं ही लिखी हैं वरन् कुछ कवियों ने प्रकृति को बड़े ही सुंदर रूप में देखा है जिस कारण उन्होंने अपनी कविता में प्रकृति चित्रण को बिंबों के माध्यम से चित्रित किया है। प्रकृति, प्रेम और सौंदर्यबोध की इन कविताओं ने भी सामाजिक यथार्थ चेतना को व्यक्त किया है। हरिशंकर अग्रवाल की 'सूखा' कविता में जीवन के राग एवं सौंदर्य की झलक चित्रित हुई है–

खेत के सीने में
अपनी आंखें डालकर
वह, तलाशता है
घास का तिनका
जैसे-मरी हुई मां के स्तन में
बच्चा दूध टटोलता है।

रामकुमार कृषक की कविताओं में प्रकृति बिंबों एवं प्रतीकों का बड़ा ही मनोहारी एवं मार्मिक चित्रण है। इस तरह का लोकधर्मी सौंदर्यबोध भी स्पष्ट झलकता है जो आज की कविताओं में खूब देखने को मिलता है। इससे स्पष्ट होता है की आज भी कविता अपनी कोमल संवेदनाओं को बचाए हुए है। इस संदर्भ में 'उम्मीद है मां को' कविता को देखा जा सकता है–

सूखे गन्ने की तरह खड़ा है भागसिंह
गांठा नहीं जा सका हुक्का
आ नहीं सकी नई नै
तार के सहारे टिकी है महीनों से
चटकी हुई चिलम
बेसुरे हो गए हैं चैता और फग्गू
कोंपलें नहीं फूटीं बसंती के गालों पर।[7]

गौरतलब है कि हिंदी कविता के स्वरूप में जो परिवर्तन देखने को मिलता है, वह कविता की यथार्थवादी सौंदर्य चेतना के प्रति अत्यधिक सतर्कता और जागरूकता के साथ भाषा एवं छंदों की कठोरता से मुक्ति है जिसकी शुरूआत निराला ने की थी। उन्होंने कविता को पारंपरिक छंदों से मुक्त किया और जीवन के विविध पक्षों को मुक्त छंद में व्यक्त किया, जिसे नागार्जुन, केदार नाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, शील, अज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, शमशेर आदि ने ऊर्जा प्रदान की और अपने लिए नए रास्ते तलाश किए।

कविता के स्वरूप में यह पविर्तन उत्तर-आधुनिक काल में आकर अधिक सुदृढ़ हो गया। इसका एक कारण यह भी है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां तेजी से भारत में स्थापित हो रही हैं। भारत यूरोपीय उद्योगों की मंडी बनता जा रहा है, किसानों की भूमि पर स्टीम पावर से चालित मशीनों के कारखाने स्थापित हो रहे हैं, काल सेंटर एवं कारपोरेट जगत का विस्तार हो रहा है अर्थात पूंजीवादी मानसिकता ने समाज को बुरी तरह प्रभावित कर दिया है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य से मनुष्यता छूटती जा रही है। सामाजिक सौंदर्य-प्रतिमान बदल रहे हैं जिससे कविता के सौंदर्य-प्रतिमानों में भी बदलाव आया है। कवि नई भाषा ईजाद कर रहे हैं। वे आदमी को आदमी बनाए रखने के लिए प्रयासरत हैं और सामाजिक सराकारों के प्रति प्रतिबद्ध भी। इस संदर्भ में युवा कवि अच्युतानंद मिश्र के यहां छूटी चीजों के प्रति एवं आदमी को आदमी बनाने के प्रति अत्यधिक संवेदना और छटपटाहट है तथा भाषा की नई संप्रेषणीयता–

तुम भूल जाते हो हर बार
आदमी सबको सुंदर बनाना चाहता है
तुम भूल जाते हो क्योंकि
तुम अपने अंदर के आदमी को बचा नहीं पाते
यही तुम्हारी सबसे बड़ी कमजोरी है
तुम्हारे अंदर का आदमी बच नहीं पाता
इसलिए तुम्हारा नष्ट होना जरूरी है
ताकि आदमी होना
आदमी की तरह जीना
आदमी की तरह महसूस करना
आदमी की तरह सबको सुंदर बनाना बचा रहे।[8]

कविता अपनी उन्मुक्त भाषा-शैली, कथ्य, शिल्प और स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण आज अपनी विशेष पहचान रखती है। उसका अपना व्याकरण और मुहावरा है। विषयवस्तु के साथ-साथ कविता के समकालीन परिदृश्य में भी जो बदलाव देखने को मिलता है वह निःसंदेह संतोषजनक है। समकालीन कवियों का अपना दृष्टिकोण, अपनी सोच और अपना शिल्प है। वे परंपरागत धारणाओं से मुक्त होकर यथार्थवादी घटनाओं को अपनी कविता का विषय बना रहे हैं। आलोचक डा. जीवनसिंह के शब्दों में–'समकालीन कवि काव्यवस्तु के सूक्ष्म ब्यौरों में जाते हुए एक अधिक उदारमना एवं लचीली भाषा का निर्माण करता है। इसमें वह सायास रूपकों को नहीं गढ़ता वरन कविता की वस्तु के अनुरूप वे स्वयं आकार ग्रहण करते हैं।'

समकालीन कविता की बागडोर आज एक साथ कई पीढ़ियां संभाले हुए हैं। वे जीवन की विविधताओं को बड़ी जिम्मेदारी से कविता में चित्रित कर रहे हैं जिसमें एक पीढ़ी—केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, रामदरश मिश्र, कुंवर नारायण, विजेंद्र, रामकुमार कृषक, विष्णु खरे, ऋतुराज, लीलाधर जगूड़ी, हरिशंकर अग्रवाल, चंद्रकांत देवताले, आग्नेय, लीलाधर जगूड़ी, विष्णुचंद्र शर्मा, विष्णु नागर, विश्वनाथ प्रसाद, तिवारी परमानंद श्रीवास्तव, ज्ञानेंद्रपति, विजय कुमार, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरुण कमल आदि की है जो अपनी रचनाधर्मिता से हिंदी कविता को जीवन के बहुआयामी चित्रों में गति प्रदान कर रहे हैं। इधर इन कवियों के नए संग्रह आना हिंदी कविता के लिए सुखद है। इससे अगली पीढ़ी—राजेंद्र नागदेव, कुबेर दत्त, लीलाधर मंडलोई, नरेंद्र पुंडरीक, हरिराम राजौरिया, नेमपाल प्रजापति, हेमंत शेष, कुमार अंबुज, एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, मदन कश्यप, हेमंत कुकरेती, निरंजन श्रोत्रिय, आशुतोष दुबे, हरिश्चंद्र पांडेय, सुलतान अहमद, गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका आदि कवियों की है जो समकालीन कविता को अपनी सक्रिय भागेदारी से अपने कथ्य एवं शिल्प के द्वारा कविता की अहमियत को बढ़ाकर उसे प्रगतिशील दिशा दे रहे हैं।

कवि कुंवर नारायण का यह कहना उचित है—'इधर की कविता ने हमें आकृष्ट किया है जो शिल्प की मध्यस्थता को न्यूनतम रखते हुए हमें हमारे जीवन के मार्मिक और गहरे पक्षों से साक्षात्कार कराती है। भाषा में एक नयापन और सुखद ताजगी है जो करीब-करीब बिल्कुल अनुत्तेजित और समतल रहते हुए अतिपरिचित स्थितियों, घटनाओं, पात्रों से भी हमें बिल्कुल घनिष्ठता और गंभीरता से जोड़ती है। वह हमें भावुक नहीं बनाती, एक खास तरह साक्षी बनाती है, उस सारे जीवन का जो तकलीफों में, छोटी-छोटी खुशियों में, विसंगतियों में और हिम्मतों में हमारे चारों तरफ है। इन कविताओं में भाषा की सादगी है और प्रसंगों की अनाटकीयता, अपने आप में एक अनुभव भी है और एक प्रतिक्रिया भी—कभी सुंदर के पक्ष में और कभी असुंदर के खिलाफ।'[9]

समकालीन कविता अपने जिस रूप एवं स्वभाव के साथ आज युवा पीढ़ी के हाथ में आई है उसके स्वरूप को यह पीढ़ी परिवर्तित करके उसे आगे बढ़ा रही है, अतः कहा जा सकता है कि कविता के स्वरूप में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन हो रहा है और साथ ही वह अपने नैतिक मूल्यों में भी वृद्धि कर रही है। जो युवा कवि आज अपनी कविता से निरंतर प्रभावित कर रहे हैं उनमें हैं—जितेंद्र श्रीवास्तव, यतींद्र मिश्र, वीरेन डंगवाल, अरुण शीतांश, कुमार वीरेंद्र, कुमार मुकुल, पंकज चतुर्वेदी, निशांत, प्रेमचंद गांधी, पवन करण, हरेप्रकाश उपाध्याय, रवींद्र स्वप्निल प्रजापति, चेतनक्रांति, राहुल झा, अच्युतानंद मिश्र, मनुस्वामी, आशुतोष दुबे, देवेंद्र कुमार 'देवेश', रंजन श्रीवास्तव, स्मिता झा, रंजना जायसवाल, निर्मला पुतुल, अनिता वर्मा आदि। इसके अलावा भी अन्य बहुत-से नाम हैं जिन्हें इस पीढ़ी के संभावनाशील कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इन युवा कवियों ने इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अपनी कविताओं के माध्यम से अपना अलग मुहावरा प्रस्तुत किया है। यह पीढ़ी निरंतर अपनी रचनाशीलता के द्वारा अपने समय के अनेकानेक अंतर्द्वंद्वों की पीड़ा को झेलते हुए बड़ी सतर्कता और जिम्मेदारी के साथ आज के इस संघर्षपूर्ण समय में सामाजिक और मानवीय मूल्यों को बचाए रखने के लिए प्रयासरत है।

कविता के इस परिदृश्य में साहित्य के दरवाजे पर इस युवा पीढ़ी की उत्साहवर्द्धक एवं संतोषजनक दस्तक को संभावनाशील नजरिए से देखते हुए वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी कहते हैं—'युवा पीढ़ी काफी व्यापक भूगोल में, जो स्थानीयता और संवेदना, दृष्टि और मुहावरे का स्पंदित परिसर है, सक्रिय है। हिंदी की आधुनिकता ने बहुलता की अनेक दृष्टियों के साथ संवाद और द्वंद्व में, सहकार और अलगाव में विन्यस्त होने की जो परंपरा डाली थी, वह युवा पीढ़ी में आगे बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में, उन्हें किसी प्रवृत्तिगत या वैचारिक सामान्यकरण से घटाकर देखना न तो संभव है, न ही उचित। सिवाय इसके कि वह इजाफा है जो इस उत्तराधिकार को अपने ढंग से बढ़ाते हुए भी परिवर्तित करती है।' [10]

यदि गौर से देखा जाए तो वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी का यह कथन हिंदी कविता के संदर्भ में युवा कवियों की सक्रियता को देखते हुए उचित ही है। कविता के क्षेत्र में जो युवा कवि आज उभरकर सामने आए हैं, उन्होंने अपनी उपस्थिति को बड़े ही बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत किया है, जिसे किसी भी कीमत पर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। यह युवा पीढ़ी अपनी रचनाधर्मिता से कविता के सौंदर्यबोध में गुणात्मक वृद्धि कर रही है जिससे कविता समाज में सम्मानीय स्थान पर स्थापित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविता ने अपने उत्तर आधुनिक समय में आते-आते विभिन्न आंदोलनों, प्रवृत्तियों आदि को अपने साहसिक प्रयास से पार किया है और आज यथार्थ की पृष्ठभूमि पर फल-फूल रही है। यहां से वह समाज में घटित प्रत्येक घटना पर पैनी दृष्टि गड़ाए हुए है तथा उसको उजागर करने में तनिक भी संकोच नहीं करती। आज कविता ने अपने लिए ऐसी उर्वर भूमि तलाश कर ली है, जिसमें उम्मीद के बीज स्फुटित होकर साहित्यिक पृष्ठभूमि को गमका रहे हैं। इस संबंध में निराला का यह कहना सुखद अहसास कराता है कि पुराना बहुत अच्छा है पर नया और भी अच्छा होगा। ❑

---

1. *सदी के अंत में कविता,* संपादक : विजयकुमार का संपादकीय
2. *जनसत्ता* (समाचार पत्र) 29 अप्रैल 2007, रविवारीय
3. *कविता का जनपद,* संपादक : अशोक वाजपेयी, पृष्ठ-14
4. *अनभै सांचा,* संपादक : द्वारिका प्रसाद वारुमित्र, अंक 6, अप्रैल-जून 2007
5. *कविता कथा और काल* : डा.ए. अरविंदाक्षन, पृष्ठ-11
6. *जनसत्ता,* 25 दिसंबर 2005, 'नई सदी में कविता का स्वर' : डा. अजय तिवारी
7. *लौट आएंगी आंखें* (कविता संग्रह) : रामकुमार कृषक
8. *राष्ट्रीय सहारा* (समाचार पत्र) : 29 अप्रैल 2007
9. *कविता का जनपद,* संपादक : अशोक वाजपेयी, पृष्ठ 16
10. *जनसत्ता,* 6 मई 2007 'कभी कभार' : अशोक वाजपेयी

संपर्क : डी-8, डी.डी.ए. कालोनी, न्यू जाफराबाद, शाहदरा, दिल्ली-110032

चार गीत : **जगत प्रकाश चतुर्वेदी**

जलती हुई कोई नदी

छटपटाता है शिराओं में समुंदर
डबडबाती आंख में
जलती हुई कोई नदी!

चंद्रमा की छांव में भी धूप फैली
चांदनी के द्वार से
मैं लापता हूं
ज्यों भटकता
डाकिए के हाथ में खत
इस शहर का अधलिखा
ऐसा पता हूं
वृक्ष भागे जा रहे पीछे सफर में
सामने जैसे खड़ी
कोई अदेखी त्रासदी !

एक गहरे गर्त-सा कुछ सामने है
लग रहा, उसमें
समाता जा रहा हूं
है गमीमत, गीत थामे हाथ मेरा
डूबता हूं किंतु
गाता जा रहा हूं
एक सारस पंक में जैसे फंसा है
डूबती ही जा रही है
उम्र की प्यासी सदी!

हों निठुर ग्रह, क्रूर हों नक्षत्र सारे
पर मयूरों का
नहीं नर्त्तन थमेगा
जिन घनों को है
बरसने की न आदत
होठ पर उनके
यही गर्जन रहेगा
मन पलाशों-सा हुआ
खुद ही जलेगा
नेकियों के घर पला जो
क्या करेगा वह बदी !

सूर्य की पाती

एक आंख में दुख है
एक आंख में सुख है
कौन अश्रु पोंछूं मैं
कौन अश्रु रहने दूं?

एक ओर सागर तल
एक ओर गंगाजल
कौन लहर रोकूं मैं
कौन लहर बहने दूं?

एक हाथ गरल भरे
एक हाथ अमृत झरे
मीरा-मन कर लूं या
दंश उसे सहने दूं?

कहीं दिखे संझवाती
कहीं सूर्य की पाती
कौन दिया द्वार धरूं
किसे दूर रहने दूं?

ईशन तट कुछ बोले
वंशीवट कुछ बोले
किस-किस को बरजूं मैं
किस-किस को कहने दूं?

मैं तन का अधिवासी
पर मन का संन्यासी
पर्णकुटी छोड़ूं या
राजमहल ढहने दूं?

आएगा कुछ बादल जैसा

मुझे वृक्ष की तरह न काटो
मैं बिरवा तुलसी-दल जैसा!

कभी मंजरी के घर जन्मा
जीवन यह तुलसी का चौरा
चंदन-वन होकर आया हूं
जैसे कोई पवन झकोरा
मैं कस्तूरी वाला घन हूं
थका-थका-सा घायल जैसा !

सुख की होती उमर न कोई
दुख भी कितना बड़भागी है
तन तो बैठा सिंहासन पर
मन उतना ही वैरागी है
कहीं न देहरी, द्वार न कोई
बहता नदिया के जल जैसा!

घुंघरू बनकर नाचा हूं मैं
मंजीरों-सा गया बजाया
राजा होकर द्वारे-द्वारे
भेस फकीरों का धर गाया
मीरा-सा हर गीत हो गया
गाता फिरता पागल जैसा!

ढका-ढका चंद्रमा ग्रहण से
कोई उसे निहारे कैसे
जो आंधी वाला बादल हो
पपिहा उसे पुकारे कैसे
धूल-धूल होकर भी घन हूं
इसमें कहीं न कुछ छल जैसा!

मुझे नहीं दुख है बिंधने का
क्योंकि हुए विजयी तुम अर्जुन
मेरी जय यह शर-शैया है
जिसे बुना तुमने शर चुन-चुन
प्यासा हूं, पर धरा न बेधो
आएगा कुछ बादल जैसा !

कोई दमयंती सोई है
पवन उसे आ, जगा नहीं दे
पत्तों-पत्तों धूप उतरकर
आग छांव में लगा नहीं दे
भटकूंगा एकाकी वन-वन
मैं निर्धन, राजा नल जैसा !

वृक्ष हैं किनारों के

और हम दो-चार दिन मिल लें
वृक्ष हैं हम
अब किनारों के!

बंद होंगी जब
हवाओं के लिए भी सीढ़ियां
क्या हमें पहचान लेंगी
कल सुबह की पीढ़ियां

डाल पर कुछ और हम खिल लें
फूल हम
अंतिम बहारों के!

आ रही डोली
दिखाई दे रहे मस्तूल
आज की मीनार है यह
सिर्फ कल की धूल

पास आती आहटें सुन लें
चल पड़े हैं
पग कहारों के !

साथ थे हम जिस तरह
पंखुरी गुलाबों की
थी यही तस्वीर
अपने चंद ख्वाबों की

एक पल सपने वही बुन लें
हम दिये
बुझते सितारों के !

संपर्क : 'देवाश्रय' आश्रम रोड, मैनपुरी (उ.प्र.)

तीन कविताएं : **बी. एल. गौड़**

समय और नदी

समय के पास पल
तो नदी के पास जल है
दोनों का उद्गम है सूर्य
जब उगा
तो चल पड़ा समय
गला हिमखंड
तो चल पड़ी नदी
नदी का चलना
सूर्य के उगने का प्रतिफल है।
जो मेरे साथ नहीं चलते
चुक जाते हैं
कहता है समय
मेरे साथ बहो
नहीं तो दूर रहो
या बैठ घाट पर
केवल आचमन करो
कहती है नदी
हर लहर के साथ
बहता जल
हर सांस के साथ
बीतता 'पल' है।
सबसे बड़ी बात है
कि समय के पास कल है
जहां बसती है आशा
रखनी है जीवित
आदमी को
जो यह सोचकर सोता है
कि कल फिर उगेगा सूर्य
नदी के जल से
और यहीं होती है भूल
आदमी से
उसे लगता है
ठहरा हुआ है समय
जबकि नदी
आगे बढ़ जाती है
जहां मिलता है प्रियतम
हुंकारता-पुकारता
अंक में भरने को आतुर
रहता हर पल विकल है।
रुको मत
बहो
बस मेरी तरह चलो
नहीं तो गंधाओगे
खाली हाथ ही नहीं
मन से भी
खाली जाओगे
कहकर गई नदी
जीवन तो निशा-जल है।
समय के पास पल
तो नदी के पास जल
नदी का चलना
सूर्य के उगने का प्रतिफल है!

मेरा आचरण और वह

वह आती है अब भी
पर कभी -कभी
कभी बनकर पवन
कभी बनकर किरण !
जैसे
मैं नहीं रोक सकता पवन
सूरज की किरण
आकाश में दौड़ते
बादलों के शावक
उनसे बहस करता चांद
पतझड़ का आना
मौसम का बदलाव
वसंत का आगमन
और कलियों का खिलना
तब
कैसे रोकूं उस दृष्टि को
जो काल की तमाम परतों को भेदकर
देख आती है
उजले चरण !
इन पांवों से
नापे हैं कितने रेगिस्तान
पर न मिला वह गाछ
जिसकी छांव
स्वयं से बड़ी हो
जहां बैठकर-सुस्ताकर
अगले पड़ाव के लिए
कर सकूं प्रस्थान
दौरान इस यात्रा के
नहीं मिला कुछ भी
सिवाय लहराते रेत के
यदि कुछ मिला भी
तो केवल
इन लहरों की ओर छलांगता
प्यार से व्याकुल हिरण
पीर तो
पिघलते हिमखंड का पर्याय है
उमर के साथ-साथ बहती है
और तो और
स्वप्न में भी
स्वयं से बात करती है
अब यदि मैं
इतना बड़ा वृक्ष होकर भी
अपनी छांव में
बतियायी बातों को
याद करता हूं
तो यह बात मेरी छांव में
बैठे लोगों को खलती है
नहीं भाता उन्हें
मेरा यह आचरण
वह आती है जब भी
पर, कभी-कभी
कभी बनकर पवन
कभी बनकर किरण !

बड़ी बात

शहर में रहना
और आदमी बने रहना
एक बड़ी बात है।
वैसे भी
अब शहर में
आदमी कम बचे हैं
और जो बचे हैं
वे पहचाने नहीं जाते
देखते ही मुस्कराते हैं
हाथ हिलाते हैं
और 'जल्दी है'
कहकर चले जाते हैं
हाथ मिलाकर
कुछ पल रुके रहना
और एहसास दिलाना
कि हम तुम्हारे हैं
एक बड़ी बात है
हां, बड़ी बात है यह।
सुबह सवेरे पार्क में
टहलता हुआ आदमी
जवान होती बेटी को बताता है
बल्कि इशारतन समझाता है
'देखो बेटा' ये तुम्हारे अंकल हैं
अंकल आज ज्यादा मुस्कराते हैं
और नई सभ्यता के तहत
दोनों से हाथ मिलाते हैं
अब
अंकल का अंकल बने रहना
और दोस्त की बेटी की शादी में
ताऊ का किरदार निभाना
एक बड़ी बात है
जी हां, बड़ी बात है यह।
पति-पत्नी
साथ-साथ, अलग-अलग
सुनसान रास्ते पर दूर तलक
मीलों तक बतियाते हैं
बहू के गुणों को नकारते हुए
और तलाशते हुए
सिर्फ अवगुणों को
लौट आते हैं घर
एक विवशता के तहत
बहू को बेटी 'बताना'
एक आम रिवाज है
पर बहू को बिटिया 'बनाना'
एक बड़ी बात है
जी हां, सचमुच बड़ी बात है यह!

संपर्क : 8/23 राजनगर, गाजियाबाद

तीन कविताएं : **उद्भ्रांत**

सपने ही

सपने ही देखता रहा हूं मैं
जीवन भर
जब मैं छोटा था
तब मेरे सपनों में
आती थीं तितलियां रंग-बिरंगी
और मैं उन्हें पकड़ने को
यहां-वहां दौड़ता था
पकड़ नहीं पाता था
कभी-कभी तो लगता था कि
अब बस्स
पकड़ में आई ही समझो
मगर हाथ बढ़ाते ही
चतुर, चालाक, चौकन्नी
तितली उड़ती थी फुर्र से
और मैं हाथ मलता रह जाता
और तभी आंख मेरी खुल जाती

और बड़ा हुआ तो
परियां मेरे सपनों में आने लगीं
कभी-कभी तितलियां ही
परियां बन जाती थीं
सुंदर, अप्सराओं-सी
और मुझे दे हवाई चुंबन
आसमान में अदृश्य हो जातीं
और तभी आंख मेरी खुल जाती
हंस-हंसिनी का जोड़ा
शांत भाव से सरोवर में तैरता
प्रकृति के
सुनसान वातावरण में
वीणा की उठती झंकार
कुहू-कुहू कोयल की
पपीहे की पिहू और
केंकार मोर की
ये सब बारी-बारी से
मुझको सपनों में दीखते
और जब उन्हें समझ यथार्थ
मैं नजदीक उनके जाता तो
आंख मेरी खुल जाती
हो जाते अदृश्य वे

पहुंचा जब मैं प्रौढ़ावस्था में
तब भी सपनों ने
मुझ तक आना छोड़ा नहीं
लेकिन ये सपने थे अजीब
दिखते थे इनमें असहाय
शोषित और
सभी तरह से सताए लोग
मैं जिनकी
चाहकर भी मदद कुछ न
कर सकता
इन दिनों लुकाठी लिए
एक वृद्ध आता है सपनों में
नहीं अकेला—उसके साथ
एक श्वेतकेशी दिव्य आकृति
उठाए हुए अपने-अपने हाथ
मुद्रा आशीष की दिखाते हुए
किंतु उन्हें नहीं पहचानता मैं
कौन हैं वे
क्या वे ही सूचक हैं
मेरे आगत जीवन के?

डायरी

यह डायरी
किसी ने भेंट में दी
पिछले बरस
याद नहीं किसने?
कामना करते हुए
कि मैं लिखूंगा इसमें
अपनी नई कविताएं
प्राणवान अनुभूतियां
सौंदर्यचेता शब्द
जिनसे फूटेगी गंध
और छंद जिनसे झरेगा
साल बीता
डायरी कोरी की कोरी!
नहीं उतरीं कविताएं
शब्दायित नहीं हुईं अनुभूतियां
जन्मी नहीं शास्त्रीय गंध
और मुक्त नहीं हुए
हंस की तरह उजले
श्वेत धवल छंद
आखिर यह एक और साल
कैसे बीत गया रिक्त?
जबकि गांधी का गुजरात
शांति का नहीं
और क्रांति का भी नहीं
भयानक अशांति का
चरम अन्याय का
और निर्मम अत्याचार का
प्रतीक बन
सांप्रदायिक आग में
धू-धू कर जला
बनकर रोशन हुआ
विश्व के नक्शे पर
हत्या-दर-हत्या
स्त्रियों पर बलात्कार
बच्चों पर अमानुषिक अत्याचार
नष्ट हुआ वली का मजार
हवाओं में फैलतीं
विद्वेष, घृणा और हिंसा की लपटें
धुंध और धुआं
चीख-पुकारें, रुदन, करुण-क्रंदन
मगर मेरी समूची संवेदना को
गोया मार गया काठ
स्तब्ध-शांत, गूंगी-बहरी
भीतर ही भीतर दहली हुई
उसे सुनाई देती भी तो कैसे
एक अकेली
डायरी की कातर पुकार?
जो चीख-चीखकर
मुझे झिंझोड़ रही थी
और जगा रही थी
चांटे मार-मार
अपनी अनुभूतियों को
शब्द के कमजोर ही सही
माध्यम में उतारने
और मुक्त होने को!

प्रेत

पीपल पर / बरगद पर
कुएं की बावड़ियों पर
मेरे गांव की नहर किनारे की
कच्ची पगडंडियों वाले
अंधेरे सुनसान मार्ग पर
अपने देश की
गुलामी के दिनों में भी
एक प्रेत अपना बसेरा
कहीं न कहीं बसाए था
और घूमता था आजाद
अंग्रेज कुछ नहीं कर सके उसका
और जब-तब
कभी गांव की
कोई कमसिन बालिका
कोई नवविवाहिता
तो कभी कोई अधेड़ औरत ही
बन जाती उसका शिकार
पूछने पर बताती थी
कि अंधेरे में उसका
चेहरा नहीं दीखता था
मगर बदन उघाड़ा होता था
बिल्कुल नंग-धड़ंग
और हमारा भोजन कर
डकार लेता हुआ
गायब हो जाता था
आजादी के पचास साल बाद
अब वह गांवों में नहीं दिखता
क्योंकि रोशनी के लट्टू
गांवों को कर रहे जगमग
मगर अब उसका रुख
गांव की जगह शहर की ओर है

शहर की गंदी
मलिन बस्तियों में
काम करती औरतें बताती हैं
कि कभी-कभी रात-बिरात
एक चमकता-दमकता
प्रेत जैसा जीव
उनकी झोंपड़ियों के सामने
मंडराता नजर आता है

यह प्रेत किसका है
उत्तर-आधुनिकता का
कि विखंडनवाद का
कहीं यह मार्क्स का तो नहीं?

संपर्क : 'अनहद' बी-463, केंद्रीय विहार, सेक्टर-51, नोएडा-201307 (उ.प्र.)

चार कविताएं : **सतीश सागर**

घाव

हरी घास पर बैठना
हमें अच्छा लगता है
लेकिन
ऐसा क्यों होता है
कि
जब भी हम
घास पर बैठते हैं
घास आराम देने की बजाय
चुभने लगती है
हम इसके खिलाफ
न्याय की मांग करते हैं
उनकी ओर से
जांच होती है
और वक्तव्य प्रकाशित
कर दिया जाता है
कि
उन्हें यानी हमें
बैठने का तरीका ही
नहीं मालूम
संभव है, ये घास पर
न बैठकर कांटेदार
झाड़ियों पर बैठ जाते हैं
और भविष्य में ऐसा
न करने की
चेतावानी दे दी जाती है
लेकिन एक प्रश्न
कौंधता रहता है दिमाग में
कि
जब हम बैठते हैं
तो घास झाड़ी में बदल जाती है
और जब वे
बैटते हैं
तो झाड़ी घास में
आखिर यह
कैसे हो जाता है !

सही सोच

यह सही है
कि
बोलने से पहले उस पर
सोचना नितांत आवश्यक है
लेकिन
कई बार ऐसा होता है कि
चाहे आप कितना भी
सोच-समझकर बोलें
लेकिन
सब कुछ गड्ड-मड्ड
हो जाता है
यह सब आखिर
क्यों हो जाता है कि
जब हम बोलते हैं
तो वह चीखना होता है
और वे बोलते हैं तो
वह अमृतवाणी हो जाता है
यह सिर्फ घटना नहीं
एक साजिश है
और
आप समझते हैं कि आप
साजिश को आसानी से
तोड़ देंगे
लेकिन ऐसा नहीं होता
मेरे दोस्त
चूंकि
साजिश को खत्म करने का
साफ-साफ मतलब है
सही सोच को
साफ तौर पर समझना
नहीं तो ऐसे ही चलता रहेगा
और
एक स्थिति के बाद
यह सब नासूर बन जाएगा
और तब कुछ हो पाना
नामुमकिन होगा!

परिश्रम

परिश्रम
तुम भी करते हो
परिश्रम
मैं भी करता हूं
लेकिन
हर बार ऐसा ही होता है
कि
तुम परिश्रम का सारा श्रेय
खुद ले जाते हो
और
मैं ठगा-सा रह जाता हूं
इसके एवज में तुम्हारी ओर से
मेरे खिलाफ ऊलजलूल बयान
प्रचारित और प्रसारित
हो जाते हैं
और
मैं बार-बार छला जाता हूं
बेईमान तुम होते हो,
हो जाओ
समझौते पर रत होते हो,
हो जाओ
परिश्रम को मेरे
घटाते हो / गिराते हो
घटाते रहो / गिराते रहो
पर याद रखना एक बात
परिश्रम को कभी
प्रश्नचिह्न के कटघरे में
खड़ा मत करना
वरना
तुम
तुम नहीं रहोगे
मैं और सब कुछ
सहन कर सकता हूं
पर तुम्हारा
इतना पतन नहीं देख सकता
परिश्रम...!

समुद्र

अथाह जल
उतना ही अथाह धैर्य
सच में समुद्र
तुम्हारी रचना
अप्रतिम है
तुम्हारे भीतर छिपा है
अथाह दर्द
और
सबको
समेट लेने की
क्षमता
तुम्हें देखने
निरखने का
अपना
अलग ही
सुख है
ऐसे में तुम
सच में
बेहद करीब
लगते हो
बिल्कुल
तुम्हें
मन से
शत-शत नमन
बारंबार नमन !

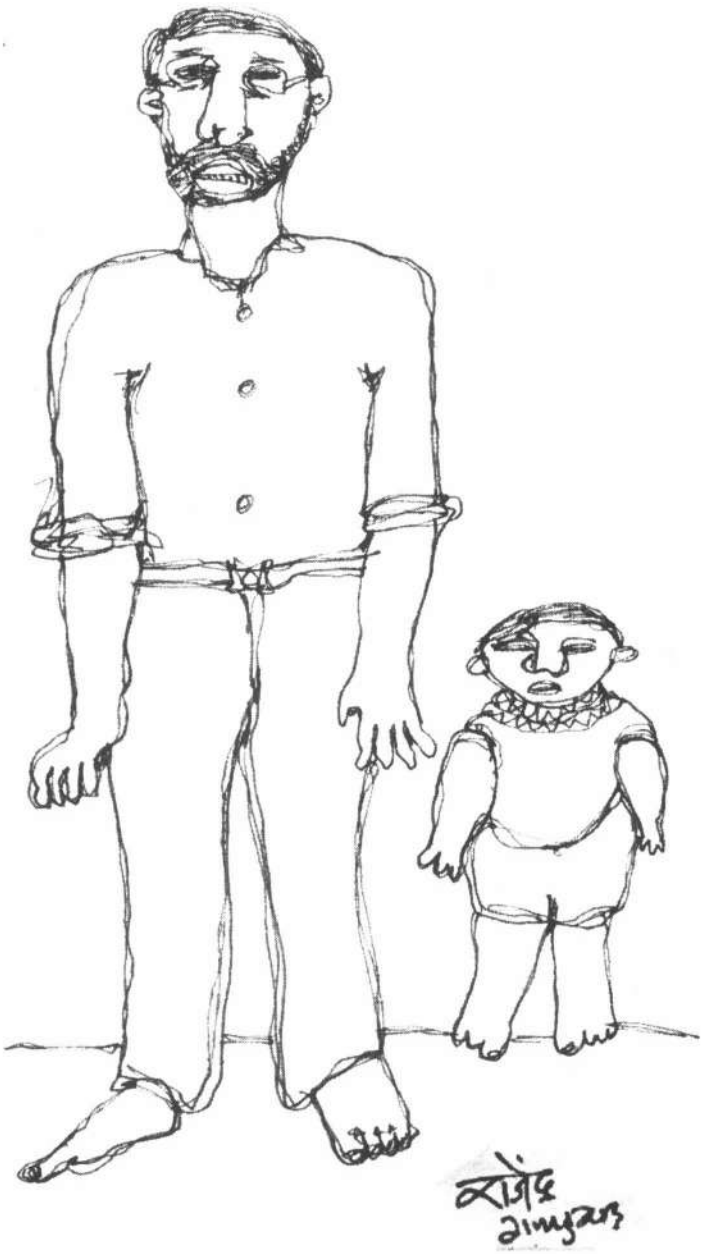
संपर्क : 'सागर' सी-29
गुलमोहर पार्क
नई दिल्ली-110049

कहानी

कठघरे में

से.रा. यात्री

रेखांकन : **राजेंद्र गायकवाड़**



कब एकाएक रात हो गई और पूरा दिन कैसे बीत गया, इसका उसे कतई पता नहीं चला। सुबह एक प्याला चाय और बहुत हल्का-सा नाश्ता लेकर अपनी मेज के सामने बैठा था—बस। बीच में कभी बेटी ने चाय दी थी जिसे उसने तश्तरी में उंड़ेलकर इस तरह गटक लिया था जैसे कहीं जाने की हड़बड़ी में हो।

घर के सभी लोग जानते थे कि जब वह लिखने में जुटा होता तो दोपहर का खाना नहीं लेता था। शाम गहरा जाने का भी उसे अहसास नहीं होता था। किसी को बत्ती जलानी पड़ती थी। उसने लंबे वक्त तक आंखें बंद करके लिखने का अभ्यास किया था। एक बार उसे डर लगा था कि अगर वह कभी अंधा हो गया तो लिखने का काम कैसे कर पाएगा।

लड़की ने बत्ती का स्विच ऑन किया तो उजाले के सैलाब से उसकी आंखें चकाचौंध हो गई। उसने मुस्कराकर बेटी की ओर देखा लेकिन ज्यादा सही बात यह थी कि उसने बेटी के चेहरे पर नजर नहीं डाली—बस यों ही देखा-भर—और मेज पर पड़े कागजों की भरपूर संख्या ने उसे अनोखे सुख से लबरेज कर दिया। इतनी लंबी बैठक से उसकी पीठ और पिंडलियां अकड़ गई थीं लेकिन मन के संतोष ने उसे फूल जैसा कोमल और हल्का बना दिया था।

जब वह अंतिम पृष्ठ लिख रहा था तभी उसने दरवाजे की तरफ से कनफोड़ स्वर सुना। उसका चिंतन एकदम गड़बड़ा उठा और कलम एक अधूरे शब्द पर ही ठहर गई। बी.ए. के अंतिम वर्ष में पढ़ने वाला उसका बेटा अपनी मां के साथ बाहर लौट रहा था और उसने ट्रांजिस्टर पूरे वाल्यूम पर खोल रखा था। उसने कागज पर केंद्रित आंखों को दरवाजे की दिशा में उठाया और हाथ के इशारे से ट्रांजिस्टर बंद करने की ताकीद की। लड़के ने मां का चेहरा एक पल के लिए देखा और ट्रांजिस्टर बंद कर दिया। लड़के ने उससे कुछ नहीं कहा। वह समझ गया कि उसके पिता की एकाग्रता खंडित हो गई है। इसलिए मां-बेटे उस कमरे से चुपचाप लौटने लगे। लेकिन ज्यों ही लड़का दहलीज से बाहर जाने लगा उसने उसे संबोधित किया—"बेटे, कहां गए थे तुम? तुम्हारी परीक्षा नजदीक है।

से.रा. यात्री जाने-माने कथाकार हैं।

अब तुम्हें लगन से लिखना-पढ़ना चाहिए। तुम अपना वक्त फिजूल गंवाते फिरते हो।"

लड़का दहलीज से ही उसकी ओर घूम गया और पलटकर किंचित आवेश में पूछने लगा—"आपने कैसे समझ लिया कि मैं अपना वक्त फिजूल बर्बाद करता हूं?"

"साफ है कि तुम पूरे दिन एक मिनट के लिए भी किताबें लेकर नहीं बैठे।" यह कहते-कहते उसे अपने कथन की सच्चाई कुछ इतनी अधिक प्रामाणिक लगने लगी कि वह लड़के के दुस्साहस पर बौद्धिक ढंग से आक्रामक हो उठा।

यह भी हो सकता है कि दिन-भर लगभग निराहार रहने की वजह से वह उत्तेजित हो उठा हो। उसने यथासंभव संयत रहने की कोशिश करते हुए कहा—"सुबह जब मैं बाथरूम गया था तो जनाब बिस्तर पर लेटे हुए थे। तुमने उस वक्त भी उस कनफोड़ चीज को अपने सीने से चिपटा रखा था उसके बाद भी तमाम वक्त घर में इसी शै का शोर बदस्तूर था।"

लड़का बहुत ध्यान से अपने पिता का चेहरा देखते हुए आरोप सुन रहा था मगर उसकी आंखों में व्यंग्य की चमक देखकर वह लगभग आवेश में आ गया।

"शाम को जब मैंने चाय पी तो मधु ने बताया कि तुम अपनी मां के साथ फिल्म देखने गए हो और तुम अब रात के नौ बजे लौट रहे हो! (उसने लड़के का ध्यान आकर्षित करने के लिए दीवार-घड़ी की ओर संकेत किया) मुझे देखो, पचास बरस पूरे कर चुका हूं लेकिन सुबह से कुर्सी पर बंधा बैठा हूं। काम में डूबा हुआ हूं और मुझे यह तक पता नहीं कि इस दरम्यान दुनिया में क्या कुछ हो गया है।"

उसने मेज पर अंबार की शक्ल में बेतरतीब पृष्ठों को लड़के को दिखाते हुए प्रभावपूर्ण शब्दों में कहा—"और यह देखते हो, मैंने एक ही दिन में कितना कुछ कर डाला।"

अब उसके बेटे ने कमरे से बाहर जाने का इरादा टाल दिया। वह उसके करीब पहुंचकर इत्मीनान से कुर्सी खींचकर बैठ गया। उसने अपने पिता के लिखे हुए कागजों पर एक सरसरी निगाह दौड़ाई और ठंडे लहजे में बोला—"पापा, आपके अपने स्टेटमेंट में जबर्दस्त कंट्राडिक्शन है। एक तरफ आप कह रहे हैं, अपने काम में डूबे होने की वजह से आपको दुनिया का कोई होश नहीं और दूसरी तरफ यह भी कि आपको पूरी तरह मालूम है कि आस-पास क्या हो रहा है, यहां तक कि इस घर में होने वाली घटनाओं का राई-रत्ती ब्यौरा पता है।"

एक पल के लिए वह सन्नाटे में आ गया। बेटे के महीन तर्क का उसके पास कोई स्पष्ट उत्तर नहीं था। यह और भी विचित्र स्थिति थी कि उसके काम को लड़के ने रंच मात्र महत्व नहीं दिया था। रोष और उत्तेजना उसे दगा दे गए—वह मुलायम पड़ते हुए लड़के को समझाने के स्तर पर आ गया—"बेटे, सारे दिन कोई काम तो किया। तुमने तो वह भी कहां किया? मेरा मतलब, वक्त..."

लड़के ने उसकी बात बीच में ही झटक दी—"मैं माफी चाहता हूं, पापा! बिना एकाग्रता के जो कुछ आपने किया, क्या उसका कोई मतलब है? एनी डीड हॉफ हार्टेड इन गिव्ज सेटिस्फेक्शन टु नन (आधे दिल से किया हुआ काम किसी को संतोष नहीं दे सकता)। आपने सारे दिन लिखा—मैंने फिल्म देखी और गाने सुने। इस तरह हम दोनों ही सारे वक्त खुद से भागते रहे।"

नायक वह समझ नहीं पाया कि यह वार्तालाप कहां जा रहा है। अपने खुलेपन का उसे बहुत घमंड था लेकिन लड़के की मुंहजोरी से वह घबरा गया। उसने पत्नी को खोजने के लिए नजर दौड़ाई। वह शायद टकराहट के इस भीषण क्षण में उसकी कुछ सहायता कर सकती थी। उसका अपना बेटा बहस करने के लिए चुनौती की मुद्रा अख्तियार किए बैठा था।

पत्नी कहीं नजर नहीं आई तो वह नरम लहजे में समझाने-बुझाने के अंदाज में बोला—"बेटा, मेरा दस घंटे तक लगातार लिखना और तुम्हारा निरुद्देश्य घूमना दोनों चीजें एक नहीं हो सकतीं। मैंने जो लिखा है वह छपने पर एक स्थायी चीज बनेगी। इसके अलावा भौतिक स्तर पर भी वह इस घर को चलाने का सहारा बनेगी।"

लड़का ठठाकर हंस पड़ा और लापरवाही से पैरों को आगे फैलाकर बोला—"जो लोग यह नहीं करते यानी लिखते नहीं है, क्या उनके लिए जीने का कोई सहारा नहीं है? जिस एकाग्रता, मेहनत और निष्ठा पर आपका इतना जोर है वह इतनी मामूली-सी चीज है कि उसे कहीं अंडरलाइन नहीं किया जाता बल्कि जो इस लिखने-पढ़ने में नहीं हैं, वे हमसे एक बेहतर जिंदगी जी रहे हैं।"

"तुम सही कहते हो क्योंकि तुम्हारी नजर बाहरी टीमटाम और जिंदगी को महज एक ज्याफत समझने पर है। जाहिर है, इसके लिए मेहनत-मशक्कत की दरकार भी क्यों हो? लेकिन बेटे, मेरी नजर कद्रों और मूल्यों पर है इसलिए मैंने उन्हें ही प्राथमिकता दी है। रंगीनियां तुमको ललचाती हैं, पर सुन लो—वह दूसरों का शोषण किए बगैर तुम्हें मयस्सर नहीं हो सकतीं। मेरी प्रकृति में हिंसा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।"

"आप शायद खामखयाली में जीते हैं।" लड़का बौद्धिक तकरार पर आमादा हो गया—"मैं आपके अपने ही विचारों में जबर्दस्त उलझन देख रहा हूं। आप जब रिक्शे पर सवार होकर आते हैं तो रिक्शा चालक को कमरे में ही लिए चले आते हैं। उसे सोफे पर बिठाकर हम लोगों से चाय लाने को कहते हैं। वह पसीने से तर होता है तो पंखा पूरी रफ्तार पर खोल देते हैं, लेकिन क्या यह सारी उदारता परिश्रम के प्रति होती है? नहीं, इसकी बाबत मैं आपको बताता हूं। आपका उसकी मजबूरियों के लिए कोई लगाव नहीं होता—यह तो आप अपनी एक इमेज बनाए रखना चाहते हैं। कुछ लोग होते हैं कि एक पूरी जिंदगी अपनी एक मूर्ति गढ़ने में खपा देते हैं। आप भी यही कुछ करते हैं। रिक्शे वाले को सड़क पर किराया नहीं चुकाते—कमरे में बिठाकर चाय वगैरह पिलाकर पैसे अदा करते हैं। जब वह घर के दरवाजे से बाहर पांव रखता है तो इतना बौखला उठता है कि अपनी कमरतोड़ मेहनत की एवज से मिले पैसों को आपके द्वारा दी गई खैरात खयाल करने लगता है। शोषकों से ज्यादा मजदूरी आप भी कहां चुकाते हैं? हां, सस्ते से सस्ते मूल्य पर देवत्व अवश्य वसूल कर लेते हैं। मेरी नजर में आपका यह मानवतावाद एक दूसरी तरह का शोषण है—कहीं ज्यादा हिंसक और भयंकर।"

वह बेटे के निर्मम प्रहार को संभालने की कोशिश करने लगा—"तुम इसे शोषण क्यों कहते हो, भाई? मैं उसे अच्छा व्यवहार अपने खुलेपन के ही कारण देता हूं।"

लड़का उसकी बात से अप्रभावित ही रहा और विद्रूपता से बोला—"परिश्रम के प्रति आपकी आस्था मेरी दृष्टि में सिर्फ सोचने तक है। जिस मेहनत को आप स्वयं नहीं कर सकते, उसकी प्रशंसा बहुत करते हैं लेकिन उसके बदले

में देते क्या हैं? रिक्शापुलर या मजदूर को ही मजदूरी देते हैं न! जितनी और कोई भी देता है। परिश्रम की कद्र तो तब समझ में आती जब वही मशक्कत आप स्वयं करते और संतुष्ट हो जाते।''

लड़का अनथक बोल रहा था। लगता था कि लंबे वक्त ने स्वीकार की हुई मान्यताओं की वह धज्जियां उड़ा रहा था—''कुछ नहीं पापा, आपने कुछ खुशफहमियों के तहत सारी जिंदगी गवां दी। आपने हमेशा यही दोहराया—'तुम लोग पूर्ण स्वतंत्र हो, मैं तुम्हारे बीच में कभी बाधक नहीं बनूंगा।' इस स्वच्छंदता ने हमें क्या सामाजिक स्तर दिया है, क्या आपने कभी सोचा है? मैंने और मम्मी ने जब आपसे किसी समस्या के बारे में बातें करनी चाहीं तो आपने एक वाक्य बोलकर सब कुछ खत्म कर दिया—जैसा चाहो करो।' अब हमारे निर्णयों की गलतियों को आपने कभी नजरंदाज नहीं किया। मुझे बचपन के दिनों तक की बातें याद हैं जब मम्मी आपसे सिनेमा या कहीं बाहर घूमने जाने के लिए आग्रह करती थीं तो आप इन कागजों की कैद में जकड़े रहना ही बेहतर समझते थे और उन्हें टालते हुए व्यस्तता से कहते थे—''भई, तुम लोग घूमो-फिरो—मुझे छोड़ो। देखते नहीं हो, मैं काम कर रहा हूं! और यही मसरूफियत आपका जबर्दस्त कवच बनी रही। आप हमारे मानसिक और व्यक्तिगत संकटों से हमेशा कतराकर निकलते रहे हैं। यह कुछ नहीं आपकी स्वार्थपूर्ण मानसिक विलासिता थी।''

''बेटे, यह सरासर ज्यादती है। कम से कम इकतरफा फैसला मत करो। मेरे मंतव्यों को समझना चाहिए।''

उसका बेटा अपनी रौ में बोलता चला गया—''आपका ख्याल है कि आप हम लोगों को हमारे ढंग पर जीने का अवसर देते रहे हैं लेकिन आखिर यह कौन-सा ढंग या जीवन-पद्धति है जिसे आप आजादी से जीना कहते हैं? जिसे आप मुक्ति कहते हैं, वास्तव में वह अराजकता की सटर-पटर जिंदगी होती है। यह आदमी को कहीं नहीं ले जाती। बिखराव और भटकन स्वतंत्रता नहीं हो सकती। इससे कभी सच्ची खुशी भी नहीं मिलती। आपको वहम है कि आप कागज काले करके एक वैचारिक क्रांति करना चाहते हैं।''

लड़के को परास्त करने का कोई अस्त्र उसके हाथ नहीं आया तो वह मुस्कराते हुए बोला—''मैं कितने निरुद्विग्न भाव से ध्यानपूर्वक तुम्हारा तर्क सुन रहा हूं! आखिर यह चिंतन और अभिव्यक्ति की आजादी तुम्हें कहां से मिली है? मैं तुम्हें पूरी तरह स्वच्छंद न छोड़ता तो इतने निडर होकर तुम अपनी बात कैसे कह सकते थे?''

उसने अपने अस्तित्व के डूबते जहाज को तूफान से निकालने की भरसक कोशिश की थी लेकिन उसका बेटा धीरज छोड़ बैठा था। वह भावावेश में कुर्सी छोड़कर उठ खड़ा हुआ और निर्णयात्मक लहजे में बोलने लगा—''मुखरता और अभिव्यक्ति की स्पष्टता उनकी कोई सहायता नहीं कर सकती जिन्हें स्वतंत्रता देने के नाम पर सिर्फ भटकाया गया हो। आप कभी-कभी महीनों तक अपने में डूबे रहते हैं। आपके लिए अपनी ही मस्ती पर्याप्त होती है, आपको दुनिया में किसी की दरकार नहीं होती—कोई डायलॉग नहीं चाहिए होता। आप अपनी इस एकछत्र संपूर्णता में जब अपने इधर-उधर नजर डालते हैं तो सब चीजों के कद आपको जमीन के भीतर पाताल में घुसे हुए लगते हैं। लेकिन इस बौनेपन के माहौल में अपने बहुत बड़े कद को लेकर जब आप खड़े होते हैं तो आपको कैसा लगता है—सोचा है कभी आपने?''

वह अपने बेटे के गंभीर आरोपों को अब हल्केपन से लेने की मानसिक स्थिति में नहीं था। बहस करने का भी कोई स्पष्ट मुद्दा उसके सामने नहीं था। बेटा किसी एक विचार पर केंद्रित था और एक पूरी जीवन दृष्टि को हिकारत से नकार रहा था। उसे जोर की प्यास महसूस होने लगी लेकिन अगले ही क्षण उसे लगा कि ऐसी प्यास उसे बहुत पहले बचपन में लगा करती थी और वह उसे कक्षा से पलायन करने के लिए उकसाती थी। सामने बैठा हुआ कमसिन लड़का उसे एक गंभीर और ठंडा जज दिखाई पड़ने लगा और उसने अनुभव किया कि वह कटघरे में खड़ा है। वह कमजोर स्वर में बोला—''मैंने कभी इस तरह नहीं सोचा।''

लड़का 'वही तो' कहकर कटखने ढंग से मुस्कराने लगा और फिर से कुर्सी पर टिकते हुए कहने लगा—''आपने न कभी हमें पूरी तरह बांधा—न मुक्त किया। कुछ रिश्ते आदमी की जिंदगी में ऐसे भी होते हैं जो मुक्ति नहीं, गहरे-घनिष्ठ संस्पर्शों के बंधन चाहते हैं लेकिन आदमी के मन की घनीभूत घाटियों में भटकने वाले आप उनसे कभी परिचय पाने के फेर में नहीं पड़े। याद है आपको, मैंने या मधु ने कभी आपसे पढ़ा देने के लिए कहा तो आपने 'अभी एक मिनट ठहरो जरा' कहकर कोई किताब खींच ली या लिखने में जुट गए। उस एक मिनट की अवधि का बरसों-बरस कभी अंत नहीं हुआ। आज जब मुझे किताबों से विरक्ति हो चली है, जानने की सारी दिलचस्पी खत्म हो गई है तो आपको लगता है, किताबों में सिर मारे बगैर जीवन का कोई निस्तार ही नहीं है। मौलिकता के नाम पर सिर्फ आपने एक ठंडी तटस्थता का विस्तार किया है जिसका एक सिरा आत्मकेंद्रित होने में छिपा है तो दूसरा दिग्भ्रम में!''

सहसा सारा कुछ उसे एकदम गड़बड़ाता हुआ लगा। अपनी बढ़ती उम्र के सामने उसने एक प्रश्नवाचक चिह्न फैलते हुए देखा—'तुम किसके लिए जिए?' उसके द्वारा जो भी सृजन के नाम पर हुआ उसके पास है जिनमें उनके उदास या प्रफुल्लित मन की सहज धड़कनें सुरक्षित हैं। हो सकता है, उनमें से कुछ उससे और भी घनिष्ठता से जुड़ना चाहते रहे हों लेकिन उसने कंपित प्राणों की वेगवती धारा में कभी गहरी डुबकी नहीं लगाई। वह कभी नहीं जिया। उसने केवल औरों के जीने को कागज पर उतारा—'ओफ! कितना दुखद है एक दुखांत के निकट पहुंचना और केवल उस वक्त जानना जब आगे कुछ बाकी नहीं रह जाता!'

उसने गहरी सांस लेकर बेटे की ओर देखा लेकिन उसकी कुर्सी खाली पड़ी थी। पता नहीं, वह उसे गहरी उलझन में डालकर कब कमरे से बाहर चला गया था।

उसके सिर में न जाने कितने विचार गड्डमड्ड होकर एक-दूसरे को काटते चले जा रहे थे। उसने अपने माथे को उंगलियों के पोरों से कसकर मसला और 'लीला, लीला' कहकर पत्नी को बुलाने लगा। लेकिन पत्नी ने शायद उसकी कमजोर आवाज नहीं सुनी। उसने कुर्सी छोड़कर उठना चाहा लेकिन पांवों में पंजों से लेकर पिंडलियों तक एक जबर्दस्त सुन्न फैल गई। उसने खुद से सवाल किया—'क्या यही अंत है?' जिसके जवाब में कोई अमूर्त-सी चीज उसकी मानसिक दृष्टि में साकार होती चली गई—वह एक बेड़े पर सवार है—एक बड़ा लंबा-चौड़ा मानस्विता का बेड़ा। संपूर्णता के बोध से वह निर्बाध गति से उसे खेता चला जा रहा है। सहसा समुद्र के गर्भ में फैले शैल-शिखरों से उसका बेड़ा टकराकर क्षण-भर में खंड-खंड हो जाता है और अनिश्चय की लहरें उसे किसी निर्जन टापू पर एकाकी फेंक देती हैं...! ❑

संपर्क : ई/एफ-7, कविनगर, गाजियाबाद-201002

चार बांग्ला कविताएं : **जीवनानंद दास**

मैंने देखा है बंगाल का चेहरा

मैंने देखा है बंगाल का चेहरा इसलिए पृथ्वी का रूप
देखने कहीं नहीं जाता, अंधेरे में जगे गूलर के पेड़
तकता हूं, छाते जैसे बड़े पत्तों के नीचे बैठा हुआ है
भोर का दयोल पक्षी—चारों ओर देखता हूं पल्लवों का स्तूप
जामुन, बरगद, कटहल, सेमल, पीपल साधे हुए हैं चुप्पी

नागफनी की छाया बलुआही झाड़ों पर पड़ रही है
मधुकर के नाव से न जाने कब चांद, पंपा के पास आ गया है
ऐसे ही सेमल, बरगद और ताड़ की नीली छाया से भरा-पूरा है
बंगाल का अप्रतिम रूप

हाय, बेहुला ने भी देखा था एक दिन गंगा में नाव से
नदी किनारे कृष्ण द्वादशी की चांदनी में
सुनहले धान के पास हजारों पीपल, बरगद वट में
मंद स्वर में खंजनी की तरह इंद्रसभा में
श्यामा के कोमल गीत सुने थे, बंगाल के नदी कगार ने
खेत मैदान पर घुंघरू की तरह रोए थे उसके पांव!

बनलता सेन

हजारों साल से राह चल रहा हूं पृथ्वी के पथ पर
सिंहल के समुद्र से रात के अंधेरे में मलय सागर तक
फिरा बहुत मैं बिंबिसार और अशोक के धूसर जगत में
रहा मैं वहां बहुत दूर अंधेरे विदर्भ नगर में
मैं एक क्लांत प्राण, जिसे घेरे है चारों ओर जीवन सागर का फेन
मुझे दो पल शांति जिसने दी वह—नाटोर की बनलता सेन

केश उसके कब से काली, विदिशा की रात
मुख उसका श्रावस्ती का कारु शिल्प
दूर सागर में टूटी पतवार लिए भटकता नाविक
जैसे देखता है दारचीनी द्वीप के भीतर हरी घास का देश
वैसे ही उसे देखा अंधकार में, पूछ उठी—कहां रहे इतने दिन?
चिड़ियों के नीड़-सी आंख उठाए— नाटोर की बनलता सेन

समस्त दिन शेष होते शिशिर की तरह निःशब्द
आ जाती है संध्या, अपने डैने पर धूप की गंध पोंछ लेती है चील
पृथ्वी के सारे रंग बुझ जाने पर पांडुलिपि करती आयोजन
तब किस्सों में झिलमिलाते हैं जुगनुओं के रंग
पक्षी फिरते घर—सर्वस्व नदी धार—निपटाकर जीवन भर की लेन-देन
रह जाती अंधेरे में मुखाभिमुख सिर्फ बनलता सेन!

फिर आऊंगा लौटकर

फिर आऊंगा मैं धान सीढ़ी नदी के तट पर लौटकर—इसी बंगाल में
हो सकता है मनुष्य बनकर नहीं—
संभव है, शंखचील या मैना के वेश में आऊं
हो सकता है, भोर का कौवा बनकर ऐसे ही
कार्तिक के नवान्न के देश में
कुहासे के सीने पर तैरकर एक दिन आऊं—इस कटहल की छांव में
हो सकता है, बत्तख बनूं—किशोरी की—घुंघरू होंगे लाल पांव में
पूरा दिन कटेगा कलमी के गंध भरे जल में तैरते-तैरते
फिर आऊंगा मैं बंगाल के नदी खेत मैदान को प्यार करने
उठती लहर के जल से रसीले बंगाल के हर करुणा सिक्त कगार पर

हो सकता है, गिद्ध उड़ते दिखें संध्या की हवा में
हो सकता है, एक लक्ष्मी उल्लू पुकारे सेमल की डाल पर
हो सकता है, धान के खील बिखेरता कोई एक शिशु
दिखाई दे आंगन की घास पर
रुपहले गंदले जल में
हो सकता है, एक किशोर फटे पाल वाली नाव तैराए
या मेड़ पार चांदी-से मेघ में सफेद बगुले उड़ते दिखाई दें—
चुपचाप अंधकार में, पाओगे मुझे उन्हीं में कहीं न कहीं तुम!

आकाश में सात तारे

जब खिल उठते हैं आकाश में सात तारे तब मैं यहां
घास पर बैठा रहता हूं, पीले फल-सा लाल मेघ, मृत उज्ज्वलता
की तरह गंगासागर में डुबोकर ले आती है जैसे शांति
अनुगत बंगाल की नीली संध्या में--जैसे कोई केशवती कन्या
चली आई आकाश पर:

मेरी आंखों में—बसा है वह चेहरा जिस पर केश बिखरे हैं
पृथ्वी की किसी भी राह ने देखी न होगी कभी ऐसी कन्या—
उसके काले केशों का चुंबन, सेमल, कटहल, जाम पर झरते
अविरल, कोई नहीं जानता होगा कि इतनी स्निग्ध गंध झरती है
रूपसी के केश-विन्यास से

पृथ्वी की किसी राह पर नहीं होगी
कच्चे धान की गंध-कलमी की बास
हंस के पंख, खर, पोखर के जल, चांद, पुंठिया मछली की सोंधी गंध
चावल धोई किशोरी की भीगी कलाई, ठंडा-सा हाथ
किशोर के पांव में चिपकी मोथी घास, लाल-लाल बटफल की
दुखद गंध छाई नीरवता—इसी में है बंगाल का प्राण

जब खिल उठते हैं आकाश में सात तारे तब पा जाता हूं मैं संकेत!

— प्रस्तुति : **नैया**

प्रकृति-सौंदर्य और जटिल बिंबों का कवि
जीवनानंद दास

जीवनानंद ने जीवन के विभिन्न रंगों को एक बड़े कैनवास पर चित्रित किया है। वह कैनवास है—काल-प्रवाह। इस कवि की कविताएं संपूर्ण काव्य की कथा अपने अंतर्निहित भावों द्वारा हमारे सामने रखती हैं — स्मृतियों और प्रकृति की पृष्ठभूमि के साथ प्रकृति उसके भावबोध का अंग है। अपनी मनःस्थितियों को वह प्रकृति के उपादानों के सहारे प्रकट करता है। सुविख्यात बांग्ला कवि जीवनानंद के काव्य-संसार का विवेचन कर रही हैं **नैया**

वैसे ही उसे देखा अंधकार में
पूछ उठी— 'कहां रहे इतने दिन?'
चिड़ियों के नीड़-सी आंख उठाए
नाटोर की बनलता सेन।

('बनलता सेन', *बनलता सेन*)

जीवनानंद दास की ये पंक्तियां कहीं-न-कहीं उनके काव्य व्यक्तित्व की पहचान कराती हैं। प्रकृति और इतिहास से संवाद करती हुई उनकी काव्य पंक्तियां जीवन के प्रश्नों को तलाशती हैं। यह बांग्ला कवि अपने समकालीन कवियों से भिन्न है। उनका व्यक्तित्व अंतर्मुखी और संकोची रहा है।

बीसवीं शताब्दी का बांग्ला-काव्य रवींद्रनाथ टैगोर के प्रभाव से पूरी तरह आच्छादित था। जीवन और कृतित्व की विशालता से उन्होंने बंगाली मानस पर अधिकार जमा लिया था। चौथे दशक के कवियों की पूरी पीढ़ी ने सचेत होकर रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से मुक्ति का प्रयास किया। इनमें उल्लेखनीय हैं—विष्णु दे, बुद्धदेव बसु, प्रेमेंद्र मित्र और जीवनानंद दास। इनमें सबसे अलग छवि है जीवनानंद दास की। अपनी प्रयोगधर्मिता और विशिष्टता के कारण वह गंभीर आलोचना के भी शिकार हुए। सुभाष मुखोपाध्याय ने तो उन पर आरोप लगाते हुए यहां तक लिखा है कि सब कुछ के बीच में रहते हुए भी जो कहीं नहीं है, ऐसे ही भावांतरहीन कवि हैं जीवनानंद दास। सब कुछ वह गौर से देखते हैं और फिर एक-एक करके उन आकृतियों और चेहरों को धूसर कुहासे से ढक देते हैं। इतना ही नहीं, जीवनानंद दास पर एक तबके द्वारा निराशा, कुंठा, मृत्यु और दुरूहता का कवि होने का आरोप भी लगाया जाता रहा है।

इस बारे में यही कहा जा सकता है कि मानव-जीवन और सृष्टि का रंग हमेशा हरा-भरा ही नहीं—उसमें अवसाद का धूसर रंग भी समाया हुआ है। जीवनानंद ने जीवन के विभिन्न रंगों को एक बड़े कैनवास पर चित्रित किया है। वह कैनवास है—काल-प्रवाह। इस कवि की कविताएं संपूर्ण काव्य की कथा अपने अंतर्निहित भावों द्वारा हमारे सामने रखती हैं—स्मृतियों और प्रकृति की पृष्ठभूमि के साथ। अतीत के क्षणों को पुनर्जीवित करने का प्रयास करके जीवन के नए अर्थ और अभिव्यक्ति ढूंढने की पहल उनकी कविताओं में लक्षित होती है। उसमें जटिलता नहीं, वर्तमान जीवन का तनाव है।

बीसवीं शताब्दी की विसंगतियों और विरोधाभासों ने उनके भावुक मन को गहराई तक उद्वेलित किया। वे जिस तनाव, छिपी हुई गहरी पीड़ा और प्रश्नाकुलता को महसूस करते रहे, वही उद्वेलन उनकी कविताओं में भी मिलता है। इसीलिए कवि कहता है—

दूर सागर में टूटी पतवार लिए
भटकता नाविक
जैसे देखता है दारचीनी द्वीप के भीतर
हरी घास का देश।

('बनलता सेन', *बनलता सेन*)

संत्रास और विसंगति से भरे इस युग में इतिहास एवं प्रकृति के सहारे कवि ने जैसे असहाय मानव के लिए आश्वस्ति एवं आश्रय ढूंढा है। सन 1899 में पूर्व बंगाल के बारिशाल शहर में जन्मे जीवनानंद दास के मन में वहां की नैसर्गिक सुषमा और समुद्र-सिकता ने एक अजब सम्मोहन पैदा किया। उनकी कविताओं में प्रकृति के अनूठे बिंब भरे पड़े हैं। उनका पहला काव्य संग्रह *झरा पालक* 1927 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में प्रकृति की पृष्ठभूमि के साथ उनकी इतिहास चेतना भी जुड़ी हुई है। 1936 में प्रकाशित *धूसर पांडुलिपि* की कविताओं में जीवन की व्यर्थता से उपजे निराशा के रंगों को पढ़ा जा सकता है। इनमें कवि मानस का व्यर्थताबोध वेदना-कातरता में परिणत हो जाता है। 1942 में प्रकाशित *बनलता सेन* काव्य-संग्रह की कविताओं में कवि के थके हृदय को प्रेम और प्रकृति शांति प्रदान करते हैं। 1944 में प्रकाशित

नैया एक उदीयमान लेखिका हैं।

महापृथ्वी काव्य-संग्रह में कवि ने अपनी अनुभूतियों को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। *सातटि तारार तिमिर* की कविताएं 1949 में प्रकाशित हुईं। *रूपसी बांगला* की कविताओं में कवि स्मृतियों में बहते हुए अपनी मिट्टी, अपने आकाश और अपने परिवेश का सघन चित्र आंकता है। इसका प्रकाशन उनके मरणोपरांत सन् 1957 में हुआ। *बेला अबेला कालबेला* भी उनकी मृत्यु के बाद 1961 में प्रकाशित हुआ।



जीवनानंद दास

जीवनानंद दास की कविताएं कुछ फूलों, कुछ मौसमों के रंगों, कुछ नदियों, पहाड़ों, मैदानों और विभिन्न नगरों एवं रूपसियों की स्मृतियों को मिलाकर लिखी गई हैं। उनमें प्रकृति एक साकार रूप में हमारे सामने आती है। इन कविताओं में स्मृति एक महत्त्वपूर्ण तत्व बनकर आती है। यह कहीं पर नॉस्टेलजिया का रूप ले लेती है, तो कहीं पर उनकी बौद्धिक शरणस्थली बन जाती है जिसके सहारे वे आत्मसंधान में प्रवृत्त हुए हैं। *रूपसी बांगला* काव्य संग्रह की अधिकतर कविताएं स्मृति को ही ध्यान में रखकर लिखी गई हैं, जैसे–

फिर आऊंगा मैं
धान सीढ़ी के तट पर लौटकर–
इसी बंगाल में
हो सकता है मनुष्य बनकर नहीं–
संभव है शंखचील या मैना के वेश में आऊं।

('फिर आऊंगा लौटकर'– *रूपसी बांगला*)

अर्थवान जीवंत सौंदर्य की खोज देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। 'चांदनी रात', 'नक्षत्र', 'हेमंत', 'सागर', 'बनलता सेन' सब काल प्रवाह में चित्रित है– जीवंत और गतिशील।

सार्थकता की खोज में भटकते हुए कवि को ज्ञात होता है कि हजारों वर्षों से पृथ्वी का पथ नापते हुए उसे केवल थकान मिली है। उसे इस थकान से मुक्ति मिलती है तो प्रकृति, प्रेम और अतीत के रहस्यमय सौंदर्य से। प्रकृति उसके भावबोध का अंग है। अपनी मनःस्थितियों को वह प्रकृति के उपादानों के सहारे प्रकट करता है। प्रकृति को अपनी भावनाओं में रंजित करके वह उसके अत्यंत सूक्ष्म चित्र आंकता है। उसने उसकी एक-एक रेखा को बारीकी से उभारा है। प्रकृति के प्रकाश और अंधकार, धूप और छाया, मधुरता और कटुता को एक ही साथ विभिन्न उपमाओं और प्रतीकों में व्यक्त किया है। एक ओर उसमें 'हिजल', 'बेतेरफल', 'झिरि-झिरि गान करा नदी' का उल्लेख है, तो दूसरी ओर *झरा पालक* में उन्होंने प्रकृति के मटमैलेपन को ही अधिक दिखाया है, और प्रकृति वर्णन करते हुए हेमंत ऋतु को प्रमुखता दी है। यह उनकी विशिष्ट मनोदशा का परिचायक है। हेमंत के खालीपन में उन्होंने जीवन की रिक्तता का अनुभव किया। शीतकालीन कुहासा, सूखे पत्ते, नक्षत्र आदि बिंबों का उल्लेख वे अक्सर करते हैं। उदाहरण के लिए–

एक बार फिर
पीले पड़े तृणों से
भरा है मैदान
पत्तों पर, सूखे डंठलों पर
तैर रहा है कुहासा।

('पच्चीस साल बाद'– *धूसर पांडुलिपि*)

लेकिन जब वे प्रकृति सौंदर्य के साथ नारी सौंदर्य को मिला देते हैं, तो प्रकृति एक अलग ही रूप में नजर आती है। यहां अवसाद का धूसर रंग नारी के शुभ्र आलोक में परिणत हो जाता है। वन की लता से निर्मित नीड़, शेफाली के फूल की शुभ्रता और जल के मुरझाए कमल, क्रमशः बनलता सेन, शेफालिका बोस और मृणालिनी के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

नारी का सौंदर्य और प्रेम ही उसके व्याकुल और दग्ध हृदय को शांति प्रदान करता है। प्रकृति और इतिहास-चेतना से भी अधिक संबल उसे प्रेम से ही मिलता है। प्रेम ही उसके यहां ऐसा तत्व है जो काल की परिधि का अतिक्रमण कर चिरशांति बन गया– वह भी तब जब पृथ्वी के सारे रंग बुझ जाते हैं। उसके सारे दृश्य अंधकार में तिरोहित हो जाते हैं, तो उसी अंधेरे में केवल रह जाती है मुखाभिमुख उसकी प्रेयसी बनलता सेन। युग-युगांतर से भ्रमण करने वाले पथिक को शांति देने वाली, उसकी थकान व तृष्णा को मिटाने वाली प्रणयिनी के रूप में बनलता सेन जीवंत हो उठती है। बनलता सेन कोई साधारण नारी नहीं है, वह प्रेम की चिर शांति का ही प्रतीक है–

मैं एक क्लांत प्राण,
जिसे घेरे है चारों ओर
जीवन सागर की फेन
मुझे दो पल शांति जिसने दी वह–
नाटोर की बनलता सेन।

('बनलता सेन', *बनलता सेन*)

इस कविता में कवि ने प्रेम की क्षणिकता पर उसकी सार्थकता को प्रमुखता दी है। इस दृष्टि से 'मुझे तुम', 'सुरंजना', 'हजारों साल के खेल' कविताएं उल्लेखनीय हैं।

वे अपनी संवेदना के उत्स इतिहास में ढूंढते हैं– एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता, एक नगर से दूसरे नगर की ओर यात्रा करते हुए। यह यात्रा वैश्विक रूप ले लेती है जिसमें एक ओर सिंधु नदी है तो दूसरी

ओर मेसोपोटामिया, दजला फरात आदि। इतिहास की यात्रा करते हुए कवि का लक्ष्य है हमारे जीवन से गायब हो रहे संस्कार, मानवीय संवेदना को ढूंढना।

कवि के भीतर संचित करुणा उसे बौद्ध प्रतीकों के पास कुछ अधिक ही ले जाती है। इसी कारण श्रावस्ती, विदिशा, उज्जयिनी के नाम वीणा की झंकार की तरह उसकी कविता में मौजूद हैं। बिंबिसार, अशोक, महेंद्र, मैत्री और विश्वास के प्रसंग भी इन कविताओं में गुंथे हैं। बुद्ध, कनफ्यूशियस का ज्ञान एवं प्रज्ञा उन्हें आकर्षित करती है। वह कुछ देर अतीत में ठहरता है फिर यथार्थ बोध उसे वर्तमान में लौटा लाता है। कवि के भीतर जीवतंता और गतिशीलता का आग्रह कालबोध की रेखाओं को मिटा देता है। उनमें एक ही क्षण में तीनों काल के तनाव विद्यमान हैं। उनके बिंब इतने गतिशील हैं कि प्रायः दृश्य असंबद्ध हो उठते हैं। जीवन को खोज लेने की अकुलाहट में रूप और कुरूप को लेकर कोई अतिरिक्त सजगता नहीं रह जाती।

जीवनानंद दास की कविता में सांप के केंचुल, रक्त सने मुंह वाला प्लेग में मरा चूहा भी है, और इन्हीं के साथ सुगंध की बनी हुई फिसलती हुई सुंदरियां, पानी में तैरता हुआ हंस आदि। 'शिकार' कविता में प्रकृति, मानव जीवन, अतीत-वर्तमान का तनाव एक साथ देखा जा सकता है। जैसे–

आग जला, उष्ण हरिण का मांस
पक आया लाल-लाल
नक्षत्र के नीचे
घास के बिछौने पर बैठे-बैठे
नए-पुराने किस्से
सिगरेट का धुंआ
कई पसरे लोगों की परेशानियां
इधर-उधर बिखरी पड़ी बंदूकें
बर्फ-सी खामोश और बेगुनाह नींद...!

('शिकार'–*बनलता सेन*)

दरअसल कवि ने भयावह और जटिल बिंबों का प्रयोग करके जिस फैंटसी को रचा है, उसके माध्यम से कल्पना और वास्तविकता, हताशा-कुंठा और संघर्ष की भी इच्छाशक्ति के द्वंद्व को चित्रित किया है। अतीत से भविष्य की ओर उसकी अनवरत यात्रा, बिंबों की असंबद्धता, कालबोध का मिट जाना, जीवन और अस्तित्व के प्रश्नों को खोज लेने की बेचैनी और तड़प है जिसके लिए वह इतनी ऊहापोह करता है।

जीवनानंद दास की कविता बार-बार पढ़े जाने की मांग करती है। हम उन्हें एक सरसरी निगाह में पढ़कर खारिज नहीं कर सकते। उनसे गहरे स्तर पर जुड़कर ही उनकी कविताओं का आस्वादन किया जा सकता है। उस जटिलता के भीतर करुणा की एक अंतःसलिला बह रही है। कवि ने जीवन को प्रकृति के मध्य प्रसारित किया, प्रेम के मध्य प्रतिष्ठित किया और उसे इतिहास चेतना के साथ विस्तृत किया है। ❑

संपर्क : चंद्रभागा हॉस्टल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

फार्म
(नियम 8 के अंतर्गत)

आजकल के स्वामित्व का विवरण

(1) प्रकाशन का स्थान	नई दिल्ली
(2) प्रकाशन की अवधि	मासिक
(3) मुद्रक का नाम	श्रीमती वीना जैन
नागरिकता	भारतीय
पता	अपर महानिदेशक (प्रभारी) प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार सूचना भवन, सी.जी.ओ. काम्प्लैक्स, लोदी रोड नई दिल्ली-110 003
(4) प्रकाशक का नाम	श्रीमती वीना जैन
नागरिकता	भारतीय
पता	अपर महानिदेशक (प्रभारी) प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार सूचना भवन, सी.जी.ओ. काम्प्लैक्स, लोदी रोड नई दिल्ली-110 003
(5) संपादक	योगेन्द्र दत्त शर्मा
नागरिकता	भारतीय
पता	प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार सूचना भवन, सी.जी.ओ. काम्प्लैक्स, लोदी रोड नई दिल्ली-110 003
(6) उन व्यक्तियों के नाम और पते जो समस्त पूंजी के 1 प्रतिशत से अधिक के साझीदार व हिस्सेदार हैं	प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार सूचना भवन, सी.जी.ओ. काम्प्लैक्स, लोदी रोड नई दिल्ली-110 003

मैं वीना जैन, घोषणा करती हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

(श्रीमती वीना जैन)
प्रकाशक

मैं कहानी को निरंतर जीता हूं

सुविख्यात कथाकार ***महीप सिंह*** *से* **कमलेश सचदेव** *और* **सिम्मी हर्षिता** *की बातचीत*

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह हिंदी साहित्य जगत में एक विशिष्ट उपस्थिति हैं। डेढ़ सौ से अधिक कहानियों, दो उपन्यासों (*यह भी नहीं, अभी शेष है*), एक व्यंग्य-संग्रह (*एक नए भगवान का जन्म*) तथा एक निबंध-संग्रह (*कुछ सोचा कुछ समझा*) के रचयिता तथा अनेक शोध-पत्रों के लेखक महीप सिंह ने महानगरीय मध्यवर्ग की मानसिकता को बहुत सहज और सांकेतिक ढंग से अपनी रचनाओं में उकेरा है।

15 अगस्त 1930 को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के नई सराय गांव में जन्मे महीप सिंह ने कानपुर में एम.ए. (हिंदी) तक शिक्षा ग्रहण करने के बाद आगरा विश्वविद्यालय से 'गुरु गोविंद सिंह की हिंदी कविता' पर शोध-प्रबंध लिखकर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की तथा आठ वर्ष तक मुंबई एवं उसके बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे। किशोरावस्था से शुरू हुआ उनका लेखन सन् 1956 में 'उलझन' कहानी के *साप्ताहिक हिंदुस्तान* द्वारा आयोजित प्रेमचंद कहानी प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर पुरस्कृत होने के साथ हिंदी साहित्य जगत में प्रकाश में आया। महीप सिंह सचेतन कहानी आंदोलन के प्रमुख प्रवक्ता रहे हैं तथा पिछले चालीस वर्षों से साहित्यिक त्रैमासिक *संचेतना* का संपादन-प्रकाशन कर रहे हैं। उनकी कहानियों पर आधारित धारावाहिक 'रिश्ते' दूरदर्शन पर प्रसारित हो चुका है। महीप सिंह ने लोककथाओं पर आधारित 'लोक-लोक की बात' एवं गदर आंदोलन की पृष्ठभूमि पर 'गदर की गूंज' धारावाहिकों का लेखन भी किया है। उनकी अनेक कहानियों तथा उपन्यास *यह भी नहीं* का अंग्रेजी सहित अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।



पिछले दिनों आपकी कहानी 'निगति' पढ़कर फिर लगा कि आप अपने को दोहराए बिना निरंतर अच्छी कहानियां लिख रहे हैं जबकि आपकी पीढ़ी के अधिकांश लेखक या तो लिखना बंद कर चुके हैं या फिर लेखन में स्वयं को दोहरा रहे हैं। अभी तक नई जमीन तोड़ पाने की आपकी इस सर्जनात्मक ऊर्जा का रहस्य क्या है?

मैं इससे पहले भी एक बार कह चुका हूं कि मैं कहानियां चाहे जितनी कम लिखूं, किंतु अपने अंदर उमगती हुई कहानी को निरंतर जीता हूं। जब तक किसी कथ्य के निकट मैं नहीं पहुंचता तब तक कहानी प्रारंभ नहीं होती, प्रारंभ हो जाए तो पूरी नहीं होती। 'निगति' कहानी लिखने में मुझे दो वर्ष लग गए। कभी-कभी कहानी एक-दो सिटिंग में भी लिख ली जाती है। मुझे लगता है, कहानी को निरंतर जीना ही महत्वपूर्ण बात है।

अपने पारिवारिक परिवेश की सीमाओं का आपने कई दृष्टियों से अतिक्रमण किया। लेखन को अपनाना उनमें से एक है। इसके क्या कारण रहे?

मेरे पारिवारिक परिवेश में साहित्य का विशेष महत्व नहीं था। हमारे परिवार का आर्थिक संकट हमारी सबसे बड़ी सीमा थी। इसलिए मेरे दोनों बड़े भाई स्कूली शिक्षा से आगे नहीं बढ़े। साहित्य में मेरी रुचि बचपन से थी। दसवीं कक्षा तक आते-आते मैंने अनेक लेखकों को पढ़ लिया था। इतिहास में मेरी विशेष रुचि थी इसलिए मैंने छोटी उम्र में ही ऐतिहासिक कहानियां लिखनी प्रारंभ कर दी थीं। शिक्षा, लेखन और व्यवसाय—सभी दृष्टियों से मैंने अपने पारिवारिक परिवेश का अतिक्रमण किया। मेरी अपनी रुचि ही सबसे बड़ा कारण थी।

कमलेश सचदेव और सिम्मी हर्षिता जानी-मानी कथा-लेखिकाएं हैं।

आपकी प्रारंभिक दौर की कहानी 'उलझन' –जिसे *साप्ताहिक हिंदुस्तान* द्वारा आयोजित प्रेमचंद कहानी प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था– से लेकर सद्यः प्रकाशित कहानी 'निगति' तक आपने स्त्री-पुरुष संबंधों के सूक्ष्म और जटिल मानसिक स्तरों को अभिव्यक्ति दी है। ऐसी कहानियों को एक साथ रखकर देखें तो इनमें आज की सुशिक्षित स्त्री अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ मौजूद दिखाई देती है। लेकिन पुरुष कुछ बौखलाया हुआ, भौंचक-सा दिखाई देता है। ऐसा क्यों हुआ?

प्रायः मेरी कहानियों को लेकर पाठकों के मन में इस प्रकार के प्रश्न उभरते हैं। मेरी कहानियों के पुरुष पात्र, आपके शब्दों में, बौखलाए, भौंचक्के अथवा कमजोर क्यों दिखते हैं, शायद इसे मैं पूरी तरह विश्लेषित नहीं कर सकूंगा। आपके ही शब्दों में, मेरी कहानियों में आई सुशिक्षित स्त्री अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ मौजूद दिखाई देती है। इस दृष्टि से मैं अपने ऊपर शरतचंद्र का प्रभाव स्वीकार करता हूं। मुझे स्त्री पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और विशाल दिखाई देती है। मुझे महसूस हुआ है कि पुरुष की मानसिकता में टुच्चापन और स्वार्थ अधिक होता है। वह हर स्तर पर अवसर का लाभ उठाना चाहता है। भावनात्मक स्तर पर स्त्री चरम की स्थिति तक पहुंच जाती है, जबकि पुरुष अपनी व्यावहारिक मानसिकता की सीमाओं को तोड़ नहीं पाता। फिर भी मेरी कहानियों में अवतरित सभी पात्रों की–स्त्री और पुरुष–रचना सायास नहीं हुई। यह सब कुछ अनायास हुआ है।

आप स्त्री-पुरुष संबंधों के कहानीकार के तौर पर अधिक जाने जाते हैं जबकि आपने इन संबंधों से हटकर भी मध्यवर्ग की मानसिकता, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, दलित समस्या आदि पर अनेक अच्छी और चर्चित कहानियां लिखी हैं। इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है 'पानी और पुल' जो शायद आपकी सर्वाधिक पठित कहानी है। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

यह ठीक है कि मुझे स्त्री-पुरुष संबंधों का कहानीकार कहा जाता है। कुछ हद तक यह बात ठीक भी है। 'उलझन' से लेकर 'निगति' तक मैंने इन संबंधों पर बहुत-सी कहानियां लिखी हैं। किंतु यह भी सही है कि मध्य वर्ग की मानसिकता, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार आदि विषयों पर भी मैंने अनेक कहानियां लिखी हैं। 'पानी और पुल' उनमें से एक है। किंतु पता नहीं क्यों, स्त्री-पुरुष के बनते, बिगड़ते और बदलते हुए रूप पर कहानी लिखना मुझे आज भी अच्छा लगता है।

सन 1960-70 का दौर हिंदी कहानी में आंदोलनों का दौर था। सचेतन कहानी, अकहानी, सहज कहानी आदि अनेक आंदोलन इस दौर में चले। आप सचेतन कहानी के प्रमुख उन्नायकों में से रहे हैं। यह आंदोलन क्या था?

सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में नई कहानी की बहुत चर्चा थी। यह शब्द नई कविता की तर्ज पर प्रयोग किया जाने लगा था। उन दिनों फ्रांसीसी लेखकों/ चिंतकों के अस्तित्ववाद का व्यापक प्रभाव दिखाई दे रहा था। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात यूरोप में मृत्युबोध, संत्रास और भविष्यहीनता को व्यापक रूप से महसूस किया जा रहा था। ये सारी बातें हिंदी कहानी लेखन में भी फैशन के रूप में प्रतिध्वनित हो रही थीं। इस स्थिति में हमने 'सचेतन कहानी' की बात उठाई। हमने आग्रह किया कि हमारा देश भविष्य की असीम संभावनाओं के द्वार पर खड़ा है, जहां भविष्यहीनता जैसी कोई स्थिति नहीं है। मैं मानता हूं कि 'सचेतन कहानी' की बात ने हिंदी कहानी लेखन को फिर से जीवनोन्मुख और समाजोन्मुख दिशा में मोड़ने में बड़ी सार्थक भूमिका निभाई।

***संचेतना* का साहित्यिक पत्रकारिता में महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विशेषांक, इसके द्वारा उठाए गए मुद्दे साहित्य-जगत में चर्चित रहे हैं। पिछले लगभग चालीस वर्ष से आप–बीच में तीन वर्ष छोड़कर–इसे निरंतर प्रकाशित कर रहे हैं। सीमित साधनों में पत्रिका प्रकाशित करना बहुत कठिन कार्य है। आपका अनुभव कैसा है?**

व्यवसायीकरण के इस युग में किसी साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन अत्यंत दूभर कार्य है, विशेष रूप से जब कहीं से उसे कोई अनुदान न मिल रहा हो। *संचेतना* के प्रकाशन की पीछे एक विशिष्ट दृष्टि रही है। हम अपने पाठक को साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों के साथ ही अनेक ऐसे साहित्येतर प्रश्नों के प्रति भी जागरूक बनाना चाहते हैं जो साहित्य को प्रभावित करते हैं। *संचेतना* के अनेक विशेषांकों तथा मुद्दों ने साहित्यिक पत्रकारिता को नए आयाम दिए हैं। आर्थिक संकट से *संचेतना* सदैव जूझती रही है। आज की स्थिति भी लगभग वैसी ही है।

सन 1985 से 1990 तक आपने *संचेतना* का साहित्यिक त्रैमासिक चरित्र बदलकर उसे समसामयिक विषयों की मासिक पत्रिका बना दिया था। उसके बाद तीन वर्ष तक इसका प्रकाशन स्थगित रखने के पश्चात आप पुनः इसे साहित्यिक त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। पर सारे परिवर्तन के पीछे क्या कारण रहे?

एक समय ऐसी स्थिति आ गई थी कि हमें महसूस हुआ कि *संचेतना* को बृहत्तर दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। इसलिए इसे मासिक पत्र बना दिया गया था। मुझे इस बात का संतोष है कि *संचेतना* ने इस दायित्व का निर्वाह पूरी तरह किया। किंतु इसके आर्थिक पक्ष को हम नहीं संभाल सके और लंबे-चौड़े ऋण के अंतर्गत आ गए। मेरे स्वास्थ्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। मजबूरन हमें इसका प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। तीन वर्ष के अंतराल के पश्चात त्रैमासिक रूप में इसका पुनः प्रकाशन प्रारंभ हुआ।

आप पिछले कई वर्ष से नियमित स्तंभ लेखन और पत्रकारिता लेखन कर रहे हैं। अनेक पाठक आपको केवल पत्रकार के रूप में जानते हैं। यहां तक कि आपको उत्तर प्रदेश का 'पत्रकारिता भूषण' पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। इससे आपका साहित्य-सृजन बाधित नहीं होता?

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक विषयों पर लिखने का कार्य मैं पिछले अनेक दशकों से करता आ रहा हूं। गत छह-सात वर्ष से मैं एक दैनिक पत्र के लिए नियमित रूप से साप्ताहिक कालम लिखता हूं। मैंने अनुभव किया है कि अपने समसामयिक प्रश्न मुझसे तुरंत अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की मांग करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के लेखन से साहित्य-सृजन बाधित होता है। मेरे साथ यह हुआ है। किंतु अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रश्नों के दबाव की मैं अवहेलना नहीं कर पाता।

आपने पुस्तक-प्रकाशन में भी हाथ आजमाए हैं—पहले पंजाबी राइटर्स कोआपरेटिव सोसाइटी का दायित्व संभालकर और बाद में अभिव्यंजना प्रकाशन आरंभ करके! क्या एक लेखक के लिए प्रकाशन संभालना सहज है। आपका अनुभव क्या कहता है?

पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र में भी मैंने रुचि ली। अभिव्यंजना प्रकाशन और पंजाबी राइटर्स कोआपरेटिव सोसाइटी के माध्यम से बहुत अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। किंतु इस दृष्टि से कभी अच्छी टीम नहीं बन सकी। बढ़ती आयु, समय और शक्ति की सीमा के कारण इस क्षेत्र से मुझे अपना हाथ खींचना पड़ा। प्रकाशन कार्य पूरी तरह व्यवसाय है। उसकी अपनी बाध्यताएं हैं। किसी लेखक का उनसे समरस हो पाना सरल नहीं है।

इतने लंबे साहित्यिक जीवन में जहां आपने लगभग डेढ़ सौ कहानियां, अनेक शोध-पत्र, अनेक निबंध और संपादकीय लिखे, वहीं उपन्यास केवल दो ही लिख पाए। इसका क्या कारण है?

प्रारंभ से ही मेरे जीवन को अनेक प्रकार की व्यस्तताओं ने, कई बार अकारण ही, घेरे रखा है। इनके मध्य मैंने कहानियां, शोध-पत्र, निबंध, संपादकीय, पत्रकारिता लेखन तो कर लिया, किंतु उपन्यास लेखन के लिए जिस प्रकार एकाग्र होकर लंबा समय देना आवश्यक होता है, वह मैं नहीं कर सका। पहला उपन्यास *यह भी नहीं* मैंने अपने एक वर्ष के जापान प्रवास के दौरान लिखा। बीस वर्ष बाद दूसरा उपन्यास *अभी शेष है* कुछ दिनों तक मसूरी में रहकर लिखा। इस समय अगला उपन्यास लिख रहा हूं।

आपके प्रिय व्यक्तित्व कौन-से हैं और क्यों?

इतिहास में गुरु गोबिंद सिंह और स्वामी विवेकानंद मेरे प्रिय व्यक्तित्व हैं। दोनों के जीवन की ऊर्जा, कर्मठता और चिंतन की व्यापकता मुझे प्रभावित करती है।

आप अपने साहित्य पर किस या किन पूर्ववर्तियों का प्रभाव मानते हैं?

शरत चंद्र का प्रभाव मैं पूरा तरह स्वीकार करता हूं। विदेशी लेखकों में चेखव, मोपासां, समरसेट माम, हेमिंग्वे जैसे लेखकों को मैंने पढ़ा है। ज्यां पाल सार्त्र और कामू की रचनाओं से भी मैं प्रभावित हुआ हूं।

आज के इलेक्ट्रानिक मीडिया के युग में आप साहित्य को कितना प्रासंगिक पाते हैं?

इलेक्ट्रानिक मीडिया ने पढ़ने की रुचि को बहुत अधिक प्रभावित किया है। पत्र-पत्रिकाओं के अगणित पाठक टेलीविजन धारावाहिकों की ओर मुड़ गए हैं। हिंदी की अनेक लोकप्रिय पत्रिकाओं के प्रकाशन स्थगित हो जाने की पृष्ठभूमि में इलेक्ट्रानिक मीडिया की बड़ी भूमिका है। किंतु इससे साहित्य की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगता। वह सदा प्रासंगिक रहेगा और उसका सृजन होता रहेगा।

आपकी आधी सदी से अधिक लंबी और अभी तक जारी साहित्यिक यात्रा में विवाद और प्रवाद भी निरंतर आपके साथ चलते रहे हैं। आपके मित्रों एवं प्रशंसकों की बड़ी संख्या रही है, लेकिन आपको पसंद न करने और बाकायदा आपकी निंदा करने वालों की संख्या भी खासी रही है। इसके क्या कारण रहे और जीवन के इस मोड़ पर आप इस सबको कैसे देखते हैं?

सच कहूं तो स्तुति-निंदा से मै अधिक प्रभावित नहीं होता। जो व्यक्ति कुछ काम करता है, विवादास्पद मुद्दों में उलझता है, उस संबंध में अपना स्पष्ट मत रखता है, जो उसे सही न लगे, अन्यायपूर्ण लगे—उसका विरोध करता है—उसके प्रशंसक भी होंगे और निंदक भी। मेरे साथ यही हुआ है। प्रशंसा निश्चित रूप से मुझे बल देती है, मेरा आत्मविश्वास बढ़ाती है। निंदा और विरोध मुझे अंदर झांकने, आत्मावलोकन करने और अपने कार्यों की समीक्षा करने के लिए प्रेरित करते हैं। किंतु इससे मेरे अंदर कटुता नहीं उपजती।

आपकी दृष्टि में आपका सबसे बड़ा गुण क्या है, और सबसे बड़ा दोष क्या है?

मुझे लगता है कि मैं एक सहनशील व्यक्ति हूं, और धैर्यवान भी। प्रायः मैं अपने संवेगों को नियंत्रित कर लेता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि जब कभी मैंने, किसी स्थिति में, इंपल्सिव होकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है, मुझे पछताना पड़ा है।

सबसे बड़ा दोष यह है कि मैं आसानी से अपने आप को बिखर जाने देता हूं। उस समय मेरी प्राथमिकताएं गड्डमड्ड हो जाती हैं।

समकालीन लेखन के प्रति आपकी क्या राय है?

मुझे लगता है कि समकालीन लेखन में ऐसी बड़ी रचनाएं नहीं आ रही हैं, जिन्हें 'क्लासिक' की श्रेणी में रखा जा सके। संभवतः सारे संसार में यही स्थिति है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि सारे दबावों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी आजकल खूब लिखा जा रहा है और अच्छा लिखा जा रहा है।

मुझे लगता है कि आज का युग 'स्टालवर्ट्स' का युग नहीं है—न राजनीति में, न समाज में, न कला में, न साहित्य में। सभी ओर बौनापन दिखाई देता है। साहित्य सृजन भी इससे अछूता नहीं है।

आपने विजिटिंग प्रोफेसर के तौर पर जापान की यात्रा की, अनेक साहित्यिक यात्राओं के संदर्भ में इंग्लैंड, अमेरिका, कनाडा, मॉरिशस, चीन, पाकिस्तान, सूरीनाम आदि देशों में भी आपका जाना हुआ। इन सभी विदेश-यात्राओं के दौरान हुआ कोई विशेष अनुभव अथवा उभरा कोई विचार आप पाठकों के साथ बांटना चाहेंगे?

मैंने संसार के अनेक भागों की यात्रा की है। जापान में लगभग एक वर्ष रहा हूं। वह अद्‌भुत देश है। अपने दायित्व के प्रति पूरी तरह समर्पित होना इस देश की बहुत बड़ी विशेषता है। सभी प्रकार की यात्राएं—चाहे देश के अंदर की हों या बाहर की—लेखक को अनुभव की दृष्टि से बहुत संपन्न करती हैं और उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार करती हैं। विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों से मिलना और संवाद करना बहुत समृद्धिकारी होता है।

विभिन्न देशों में बसे हुए भारतीय मूल के प्रवासियों से मिलना अपने आप में बड़े अलग प्रकार का अनुभव है। इन लोगों ने पारिवारिक

स्तर पर अपनी परंपराओं के साथ उस देश के अपने मूल्यों को किस प्रकार आत्मासात किया है, इसका अध्ययन बहुत रोचक है। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, मॉरिशस आदि कुछ देशों में भारतीय भाषाओं के अनेक लेखक बहुत सक्रिय हैं। वहां से हिंदी, पंजाबी आदि भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएं भी निकलती हैं। भारतीयों ने वहां अपने रेडियो और टी.वी. चैनल भी स्थापित किए हैं।

द्रोणवीर कोहली ने आपके विषय में कहा है कि हिंदी जगत ने इतने प्रतिभाशाली लेखक और विद्वान को उतना आदर-मान नहीं दिया, जितने के वह अधिकारी हैं। इस संदर्भ में आप क्या अनुभव करते हैं?

हिंदी में अभी जातिवाद भी है और प्रदेशवाद भी। पचास वर्ष पहले, जब मैंने लिखना प्रारंभ किया था, मुझे बाहरी व्यक्ति ही समझा गया था। मुझे दोहरा संघर्ष करना पड़ा। किंतु इस संदर्भ में अब मुझे कोई गिला या शिकायत नहीं हैं।

अति विध्वंसक हथियारों, कहीं धर्म, कहीं नस्ल के आधार पर उत्तेजित होकर नरसंहार करते उन्माद और प्रति-उन्माद और दूसरी ओर अधिकाधिक उपभोग में ही सार्थकता ढूंढने के इस विक्षिप्त दौर के मद्देनजर आप मनुष्य और मनुष्यता का क्या भविष्य देखते हैं?

कभी-कभी मुझे लगता है कि मनुष्य फिर से मध्ययुग की ओर लौट रहा है। आधी सदी पहले जिस सह अस्तित्व की चर्चा प्रारंभ हुई थी और संपूर्ण संसार में उसकी स्वीकृति के लक्षण दिखाई दिए थे, अब मुझे वह शिथिल होती दिखाई दे रही है। उन्नीसवीं सदी के अंत में शिकागो (अमेरिका) में सर्वधर्म संसद में विभिन्न धर्मों के मध्य जो संवाद प्रारंभ हुआ था, आज उस संबंध में भी वैसा उत्साह नहीं दिखाई देता। पश्चिमी संसार के विद्वान सभ्यताआ के मध्य संघर्ष की संभावनाओं को देख रहे हैं। आज कितने ही देश अणुशक्ति से संपन्न हो गए हैं, जो क्षण भर में सारी मनुष्यता को मृत्यु की ओर अग्रसित कर सकते हैं। संसारव्यापी आतंकवाद के कारण सामान्य मनुष्य का जीवन भी बहुत असुरक्षित हो गया है।

पूंजीवादी समाज में उपभोक्ता संस्कृति का विकास होता है। एक ओर अकूत धन और दूसरी और बेअंत गरीबी के चरम छोर आज भी दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का भविष्य कितना उज्ज्वल है, यह कह सकना बहुत दूभर है।

आपने सिख धर्म का गहन अध्ययन करने के साथ-साथ उसकी युगानुरूप व्याख्या भी की है। इस विषय पर आपकी कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। वैश्वीकरण एवं सूचना प्रौद्योगिकी का अभूतपूर्व प्रसार जहां दुनिया को जोड़ रहा है वहीं उसने कट्टरतावाद के प्रचार-प्रसार के लिए भी साधन उपलब्ध कराए हैं। इस पृष्ठभूमि में आप सिख धर्म का क्या भविष्य देखते हैं?

सिख धर्म की समतामूलक दृष्टि और दलितों तथा वंचित लोगों के प्रति उसके गहरे सरोकार ने मुझे सदा प्रभावित किया है। अन्याय से लड़ने और उसके लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने की भावना को गुरुओं ने अपने स्वयं के आदर्श द्वारा अपने अनुयायियों के सम्मुख रखा। सिख आंदोलन अपने आप में बहुत बड़ी क्रांति थी। इसने भारतीय इतिहास को दूर तक प्रभावित किया।

सिख विचारधारा में संकीर्णता और कट्टरता का कोई स्थान मुझे दिखाई नहीं देता। कुछ लोग इसे संकीर्णता और कट्टर मतवाद में ढालने का प्रयास अवश्य करते रहते हैं।

यह कह सकना बहुत कठिन है कि सिखों का बाह्य स्वरूप कितनी लंबी अवधि तक कायम रहेगा। किंतु *गुरु ग्रंथ साहब* और उसमें निहित संदेश जीवित रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

आजकल आप क्या लिख रहे हैं और उसमें केंद्रीय विचार क्या है?

आजकल मैं अपनी उपन्यास-त्रयी को पूरा करने में लगा हुआ हूं। इस त्रयी में मैं 1970 से 2000 तक के कालखंड को केंद्र में रखकर जीवन के विविध पहलुओं को देखना-परखना चाहता हूं।

आप जिंदगी को किस प्रकार परिभाषित करेंगे?

मेरे लिए जीवन एक सतत प्रवाह है। 'सचेतन कहानी' की चर्चा करते हुए मैंने कहा था—जीवन केवल जिया ही नहीं जाता है, उसे जाना भी जाता है। जीवन को जानने की सतत प्रक्रिया जीवन को अर्थ देती है। अर्थ की खोज में ही जीवन की परिभाषा निहित है।

आपकी रचनाओं को पढ़कर लगता है कि भारत-विभाजन का आप पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस विषय पर आपने कई कहानियां भी लिखी हैं। आपके उपन्यास *अभी शेष है* में भी अत्यंत संवेदनात्मक ढंग से इसकी चर्चा है। आज साठ वर्ष बाद इस सदंर्भ में आपकी क्या सोच है?

भारत-विभाजन मानव-इतिहास की बहुत बड़ी त्रासदी थी। मैं इस त्रासदी का सीधा भोक्ता नहीं हूं, किंतु यह दावा कर सकता हूं कि इसे मैंने बड़ी शिद्दत से देखा और महसूस किया है। मेरी सर्वाधिक चर्चित कहानी 'पानी और पुल' इसी पृष्ठभूमि में है। *अभी शेष है* में भी इस त्रासदी के अनेक पक्ष उभरे हैं।

भारत-विभाजन ऐसा विषय है जिस पर भविष्य में भी बहुत लिखा जाएगा। पिछले वर्षों में मैं अनेक बार पाकिस्तान गया हूं। मैंने अनुभव किया है कि उस ओर के लोगों की पीड़ा भी उतनी ही गहरी है जितनी हमारी है। राजनीतिक स्तर पर भारत और पाकिस्तान के संबंध प्रेम और घृणा पर आधारित हैं। दोनों ओर बहुत आत्मीयता भी है और संदेह भी है। यह बहुत संतोष देने वाली बात है कि दोनों ओर का प्रबुद्ध वर्ग दोनों और सद्भावना उत्पन्न करने का निरंतर प्रयास करता रहता है। 14-15 अगस्त की रात को दोनों ओर के सद्भावी व्यक्तियों का वाघा की सीमा पर आकर मोमबत्तियां जलाना इसका जीवंत प्रमाण है।

विभाजन पूर्व जिस प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न हो गई थीं, उससे मुझे लगता है कि विभाजन के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचा था। पाकिस्तान एक सच्चाई है। इस बात को हमें मुक्त कंठ से स्वीकार करना चाहिए।

ऐसा कुछ, जो करने की प्रबल इच्छा है लेकिन कर नहीं पाते?

कुछ उपन्यास और अपनी आत्मकथा लिखने की इच्छा है, लेकिन यह कार्य उतनी तन्मयता से नहीं कर पा रहा हूं, जितना चाहिए।

क्या आप भी यह मानते हैं कि देह मुक्ति में ही नारी मुक्ति है?

कुछ लोग नारी देह को लेकर बहुत 'ऑब्सेस्ड' हैं और नारी को देह से परे देख ही नहीं पाते हैं। मुझे ये लोग मध्ययुगीन मानसिकता से ग्रस्त लगते हैं। उस समय नारी को मोहपाश या माया मानकर उससे दूर भागने की बात कही गई और नारी देह ही सब कुछ है—ऐसी रीतिकालीन मानसिकता भी आच्छादित रही।

किसी भी समाज या वर्ग की मुक्ति उसकी समग्र मुक्ति से जुड़ी होती है। यह बात पुरुष पर भी लागू होती है। आज चारों ओर बलात्कार की जितनी घटनाएं हो रही हैं, उससे यह लगता है कि नारी की अपेक्षा पुरुष की देहमुक्ति कहीं अधिक आवश्यक है।

आपके लिए सर्वाधिक संतुष्टि का क्षण कौन-सा होता है?

जब मैं कोई मनचाही कहानी लिख लेता हूं।

ऐसा कुछ जो आपको कचोटता हो?

जब जाने-अनजाने मैं किसी का दिल दुखा दूं, उसकी भावनाओं को आहत कर दूं, वह बात मुझे बहुत कचोटती है।

आपकी रचना-प्रक्रिया के संबंध में कहा जाता है कि आपकी रचनाओं के सूत्र आपके बहुत निकट से जुड़े होते हैं। आपकी स्त्री-पुरुष संबंधों की कहानियों के संबंध में यह बात किस सीमा तक लागू होती है?

प्रत्येक लेखक अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों को अपने लेखन में रूपायित करता है। अपने अनुभवों को समृद्ध करने के लिए वह कई बार परकाया प्रवेश भी करता है। स्वाभाविक रूप से मेरी रचनाओं के बहुत-से सूत्र मेरे अपने भावात्मक संघातों और अनुभवों से जुड़े हुए हैं। यह बात स्त्री-पुरुष संबंधों पर लिखी गई मेरी अनेक कहानियों पर भी लागू होती है। मेरे जीवन में अनेक स्त्रियां आईं—अनेक स्तरों पर...अनेक जुड़ाव लेकर। उन अनुभवों को अनेक शेड्स के साथ मैंने अपनी कहानियों में उतारा है।

आपके जीवन का सर्वाधिक मार्मिक क्षण कौन-सा था?

पंजाबी के लोककवि सैयद वारिस शाह के उर्स में सम्मिलित होने के लिए मैं अपने कुछ लेखक मित्रों के साथ जंडियाला शेर खान (पाकिस्तान) गया था। उर्स के अवसर पर वहां सारी रात वारिस शाह की लिखी 'हीर' का गायन होता है। वहां मुझे एक वृद्ध मुसलमान महिला मिली। मुझे देखकर उसकी आंखें भर गईं। बड़े स्नेह से मेरे कंधे पर हाथ रखकर वह बोली—'ओ दिन किन्ने चंगे हुंदे सन जदों असीं रल के रहिंदे हुंदे सा।' (वे दिन कितने अच्छे थे जब हम मिलकर रहते थे)। इससे अधिक मार्मिक क्षण मुझे याद नहीं आता।

आपके जीवन का सबसे अधिक प्रसन्नता का क्षण कौन-सा था?

1956 में *साप्ताहिक हिंदुस्तान* द्वारा आयोजित 'प्रेमचंद कहानी प्रतियोगिता' में मेरी कहानी 'उलझन' को प्रथम पुरस्कार मिला था—वह मेरे लिए सबसे अधिक प्रसन्नता का क्षण था।

आप लेखक हैं। आपके अंदर एक एक्टिविस्ट भी है। कुछ प्रश्नों पर आप बहुत जुझारू हो उठते हैं—बहुत विरोध, आर्थिक हानि और अपने स्वास्थ्य की आप चिंता नहीं करते। कौन-से ऐसे प्रश्न हैं जो आपको बहुत उद्वेलित कर देते हैं?

किसी भी प्रकार का अन्याय सहना, गलत बात को आंख मूंदकर स्वीकार कर लेना, मानवाधिकारों का उल्लंघन देखते रहना मेरे लिए बहुत कठिन होता है। इन मुद्दों पर मैं अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगता हूं—कभी लिखकर, कभी बोलकर और कभी सामूहिक प्रतिरोध में सक्रिय रूप से भाग लेकर। एक नागरिक के नाते और एक लेखक के नाते यह मुझे अपना दायित्व लगता है।

आप उदास कब होते हैं?

कभी-कभी मैं बहुत उदास हो जाता हूं... अनायास... अकारण भी। ऐसी उदासी मुझे जकड़ लेती है। मुझे सभी कुछ बहुत निरर्थक लगने लगता है, अपना जीवन भी। आम तौर पर यह मनःस्थिति दो-तीन दिन रहती है। इन दिनों किसी से बात करना भी अच्छा नहीं लगता। केवल सोना अच्छा लगता है।

क्या आपके जीवन में कुछ पछतावे भी हैं?

हैं! मेरा एक बचपन का मित्र था—बहुत अच्छा मित्र! वह मेरा सम्मान भी बहुत करता था। कानपुर में पढ़ाई पूरी करने के बाद मैं मुंबई चला गया और वह कोलकाता। कोलकाता से वह जापान के एक विश्वविद्यालय में चला गया। उससे मेरा निरंतर पत्र-व्यवहार होता रहता था। वह बड़े लंबे और भावपूरित पत्र लिखता था। मेरा पत्र बहुत छोटा होता था, क्योंकि मुझसे लंबा पत्र लिखा ही नहीं जाता।

उसने मुझे एक रिसर्च प्रोजेक्ट के लिए उसी विश्वविद्यालय से फेलोशिप दिलवाकर एक वर्ष के लिए जापान बुलवा लिया। वर्ष के अंत में, जब मेरा कार्यकाल पूरा होने को था, किसी बात पर उससे तकरार हो गई। मैंने तात्कालिक उत्तेजना में कुछ ऐसा कह दिया कि उसने मुझसे मित्रता के सभी संबंध तोड़ लिए।

बाद में मैंने अनेक प्रयास किए कि संबंध फिर जुड़ जाएं, किंतु वैसा नहीं हुआ। इस बात को हुए तीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं। यह बात मुझे निरंतर कचोटती रही है। मुझे आज भी इस बात का बहुत पछतावा है। यदि उस समय मैंने अपने पर कुछ संयम कर लिया होता तो इतना प्यारा मित्र मुझसे दूर न होता।

इसी प्रकार के कुछ और पछतावे हैं जो सांसारिक कम, भावनात्मक अधिक हैं।

नए लेखकों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

नए लेखकों को यह समझना चाहिए कि लेखन कार्य कोई 'कैजुअल वर्क' नहीं है। वह पूर्ण समर्पण चाहता है। यह सौ मील लंबी दौड़ है। ❑

संपर्क : कमलेश सचदेव : सी-25, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
सिम्मी हर्षिता : III-के-24, लाजपत नगर, नई दिल्ली-110024



किताबें

सेराज खान बातिश

रेखांकन : **राजेंद्र गायकवाड़**

कितना समय बीत गया है! दोनों भाई भी अपने-जीवन में रच-बस गए हैं। मां भी तो भूल गई हैं पिताजी के दुख को! आखिर कोई किसी को कितने दिनों तक याद रख सकता है...! सच है—'ये जिंदगी के मेले दुनिया में कम न होंगे, अफसोस हम न होंगे...!' मैं भी तो सब भूलती जा रही हूं। लेकिन पिछले दिनों शब्दों के रास्ते पिताजी की याद जेहन के दरीचे तक आ गई और सब कुछ ताजा-सा हो गया।

प्रसिद्ध विद्वान, 'स्तंभकार कृष्ण कुमार की एक समीक्षा पढ़ रही थी। उन्होंने लिखा था कि '... किताबें कभी मरतीं नहीं लेकिन भुला दी गई किताबों की सूची बनाई जाए तो काफी लंबी ठहरेगी। हमारे जैसे समाज में, जहां पुस्तकालयों की व्यवस्था बहुत कमजोर है, किताबों का सक्रिय जीवन, जिस दौरान पढ़ी जा रही हों, काफी छोटा रह जाता है...!'

पिताजी किताबों के इस महत्व को खूब समझते थे। तभी तो उन्होंने किताबों को अपना हमसाया बनाया था। मेरे पिताजी का नाम अफसर इकबाल था। लेकिन न वे कहीं अफसर (अधिकारी) थे और न ही उनका इकबाल (भाग्य) बुलंद था। सामान्य कद-काठी के व्यक्ति थे। वे परिवार के पहले हिंदी जानकार थे। उन्होंने हिंदी और इस्लामी हिस्ट्री में मास्टर तक की डिग्रियां ली थीं। हिंदी में तो उन्हें महारत हासिल थी। अपने बलबूते पर उन्होंने अच्छी अंग्रेजी, बांग्ला और थोड़ी-सी उर्दू सीख ली थी। लेकिन मुझे उन्होंने उर्दू की पूरी तालीम दिलवाई। शायद वे जानते थे कि जाति और वर्ग विशेष के लिए मातृभाषा का महत्व अधिक है।

वे उर्दू को एक बहुत ही मजबूत भाषा मानते थे। उनका विश्वास था कि अच्छी उर्दू जानने वाला अच्छी नागरी जान सकता है। वे कहा करते कि पुराने हिंदी के सभी विद्वान उर्दू के जानकार थे। महात्मा गांधी, नेहरू, विनोबा भावे भी!

सेराज खान बातिश जाने-माने कथाकार हैं।

... मुझे तो यकीन नहीं होता मगर मां कहती हैं कि पिताजी दो-तीन वर्ष तक फौज में रह चुके थे। और हमारे जन्म से पहले ही कश्मीर से भागकर आ गए थे। उसके बाद कई छोटी-बड़ी नौकरियां कीं। ट्यूशन वगैरा भी पढ़ाया। कई अखबारों में छिट-पुट संपादन कार्य भी किया।

कहते हैं, पिताजी के पिता अर्थात मेरे दादा गाजीपुर से कलकत्ता पैदल भागकर गांव से आए थे और फिर कभी इस मायानगरी से नहीं गए। सो कई पीढ़ियों से हम इस शहर के निवासी हैं। लेकिन रहन-सहन और तौर-तरीके वही कम्बाई हैं।...पिताजी ने मन से दो ही काम खूब किए। एक—पढ़ाइयां कीं, दूसरा—किताबें इकट्ठी कीं। इस शौक में वे बहुत कुछ हार चुके थे। मां का मान-सम्मान और विश्वास भी। मां को यह लगने लगा था कि अब 'अफसर मियां' से नौकरी-चाकरी नहीं होने वाली। सो कुदरत का इंतजाम कहें या मां की अपनी कोशिश, मेहनत और रसूक कि वे नगर निगम में एल.डी.सी. हो गईं। फिर यू.डी.सी.।

अध्ययन के रोग से मुक्त न हो पाने वाले पिताजी यूं तो लगातार नौकरी के लिए कोशिशें करते रहे। लेकिन यह भी सच है कि मां के आर्थिक रूप से सेटल्ड होने के बाद उनमें कुछ निश्चिंतता आ गई थी। उन्होंने क्लर्कशिप से लेकर आई.ए.एस. तक की परीक्षाएं दी थीं और अपने मनपसंद काम के लिए वे पचास की उम्र तक कोशिश करते रहे। पर इस देश में किसी को मनपसंद नौकरी और बीवी कहां मिलती है?

मां पढ़ी-लिखी होने के बावजूद किताबों से चिढ़तीं। वे पिताजी से कहतीं—"क्या जीवन भर किताबों को साथी बनाने से घर-संसार चल जाएगा...? यह एक प्रकार की बीमारी है। बेवजह किताबों में खोए रहना पागलपन नहीं तो और क्या है? इतनी मेहनत यदि आप किसी प्रतियोगी परीक्षा के लिए करते तो आज कहीं अफसरी झाड़ते होते...पर आप नहीं करोगे, क्योंकि उसमें प्रतिबद्ध होना पड़ेगा!"

पिताजी हमें समझाते कि ये प्रतियोगी परीक्षाएं कोई पहाड़ थोड़े ही होती हैं। बस थोड़ी-सी मेहनत चाहिए और जिंदगी-भर के लिए आराम, मान-सम्मान। उनकी इच्छा थी कि उनकी संतानें अच्छे पद पर जाएं और उनके अपूर्ण सपने को पूरा करें। मुझे शिक्षिका बनाना चाहते थे। उनका कहना था कि मिडिल क्लास परिवार की लड़कियों के लिए अभी तक यह प्रोफेशन ठीक-ठाक है। भाइयों में किसी एक को पुलिस बनाना चाहते थे जिससे समाज में डर और सम्मान दोनों उनके परिवार को मिले। बहुत अपमान और उपेक्षाएं झेली थीं उन्होंने. ..लेकिन चाहने से क्या होता है! मैं भी कहां कुछ हो पाई!

एक प्रकार से उन्होंने ही हमें पाला है। उन्होंने मां और बाप—दोनों का किरदार निभाया। हम तीनों को उन्होंने ही पहला शब्द पढ़ाया-सिखाया। खुद नमाज़ नहीं पढ़ते मगर हमें नमाज़ पढ़ने की हिदायत देते। वे बताते कि धर्म आम आदमी के लिए बहुत जरूरी है और उससे भी बहुत जरूरी है पढ़ना। *कुरान* में जिस पर पहले अध्याय से लेकर अंत तक जोर दिया गया है, वह है पढ़ने पर—'अकरा-बिस्मे रब्बेका।'

हुमायूं तो घोड़े पर बैठकर किताबें पढ़ लेता था। अकबर जंग के मैदान में पैदा हुआ था। इसलिए पढ़ नहीं सका...

लेकिन उनकी ये बातें फुटपाथी अभागे ज्योतिषियों की तरह की ही लगतीं, जो भाग्य बांचते, उज्ज्वल भविष्य की कामना करते-करते फटेहाल रह जाते हैं। कभी-कभी वे कई अखबार खरीद लाते और सारा दिन पढ़ते, निशान लगाते। नौकरियों में लाल स्याही से घेरा मारते। बड़े-बड़े पदों के लिए आवेदन करते। कुछ पदों के लिए आवेदन करके वे इतने उत्साहित हो जाते कि नौकरी पाने के बाद भी शायद नहीं होते।

एक बार तो केंद्रीय निदेशालय की पत्रिका के संपादक पद के लिए आवेदन करके इतना स्वेदनशील हो गए थे कि कई रोज तक दिल्ली की गाड़ियों की सूचनाएं और समय तालिका पढ़ते रहे।

पिताजी को देखकर लगता कि असफल व्यक्ति जब बहुत दिनों तक कुछ नहीं कर पाता तो स्वप्नशील अधिक हो जाता है। पिता अपनी विफलता को सपनों में सफल करते खूब खुश होते—उछलते-कूदते। पर सच की जमीन पर पांव रखते ही बुझ जाते।

उनके पास *कुरान* की एक हिंदी प्रति थी, जिसे वह खोलकर घंटों न जाने क्या खोजते रहते। एक बार वे अपने मित्र से कह रहे थे कि *कुरान* का हिंदी अनुवाद आज तक सही नहीं हो पाया है। हजारों-हजार शब्द गलत हैं। वाक्य विन्यास तक ठीक नहीं है। पर पवित्र *कुरान* को कौन शुद्ध करे? उनकी इच्छा थी कि *कुरान* को हिंदी में सही-सही अर्थ और वाक्य विन्यास के साथ अनूदित किया जाए। जैसे 'अनिवार्य पालनीय आदेश', 'दुखदायिनी यातना' आदि कई जगहों पर प्रयोग है। आखिर क्यों नहीं किसी अच्छे हिंदी जानकार से, भले ही वह हिंदू क्यों न हो, अनुवाद करवाना चाहिए...!

...एक समय में पं. नवल किशोर शर्मा द्वारा प्रकाशित *कुरान* की प्रतियां बड़ी प्रामाणिक मानी जाती थीं।

मैं पितृमुखी हूं। इसलिए पिताजी मुझे बहुत प्यार करते थे। वे कहते कि हिंदू शास्त्रों के अनुसार पिता के मुख वाली कन्याएं बहुत भाग्यशाली होती हैं। लेकिन अभागों के क्या भाग्य! रोटी, कपड़ा और सिर छिपाने तक की जरूरत में ही हमारी जिंदगी खप जाती है।

यहीं हमारा सारा सुख सिमटकर रह जाता है। बड़े शौक से पिताजी ने मेरा नाम नजमुस्सहर रखा था। 'नजमुस्सहर' यानी 'भोर का तारा' जो रात के अंधेरे के बाद भी सुबह होने तक चमकता रहता है।

...उन्होंने बताया कि—'इफ्फत मोहानी' का एक उपन्यास *नजमुस्सहर* कभी जरूर पढ़ना. ..।

इफ्फत मोहनी? हां-हां! अरे, वही सूफी-पीर-फकीर-से दिखने वाले शायर, आजादी के दीवाने, मौलाना हसरत मोहानी, जिनकी मशहूर रोमांटिक ग़ज़ल है—'चुपके-चुपके रात दिन आंसू बहाना याद है', उन्हीं की पौत्री, इफ्फत मोहानी।

नाना प्रसिद्ध शायर व क्रांतिकारी थे, नवासी (पौत्री) कथाकार! कहां नसीब होती है वंश में यह परंपरा...?

पिताजी हमारी बेतरतीबी देखकर कराह उठते—"लगता है, हमारे बच्चे तो ऐसे-वैसे ही रह जाएंगे। तुम लोगों में कोई लिखने-पढ़ने का शौक नहीं है। न किताबों से लगाव, न दिलचस्पी ...किताबें सबसे अच्छी दोस्त होती हैं। जब दुनिया साथ छोड़ दे तो किताबें ही तुमसे हंसती बोलती, बतियाती हैं। जेल की काल कोठरी में भी लोगों ने किताबों के सहारे ही वक्त काटे हैं.

..मुझे देखो, मेरे साथ कौन है? बस किताबें हैं जिनके सहारे मैं सदा उल्लास से भरा रहता हूं। तुम्हारी मम्मी से झगड़कर भी उदास नहीं होता। उनकी चुभती बातों को किताबों के पन्नों में डाल देता हूं। बड़ी ताकत होती है शब्दों में...!"

उस वक्त तक पिताजी की ये बातें मैं नहीं समझा पाती। कभी-कभी तो बोर हो जाती।

जब शहर में पुस्तक मेला लगता तो उनके लिए उत्सव का माहौल हो जाता। उनकी दिनचर्या बदल जाती। रोज घंटों पुस्तकों के स्टालों पर घूमा करते। धूल फांकते हुए जब घर लौटते तो जैसे उनके चेहरे पर हजारों किताबें चमकती रहती होतीं। हाथ में कुछेक मुफ्त प्राप्त हुए पर्चे, बुकलेट, कुछ किताबों के नोट किए हुए नाम और कुछेक कम दाम की पत्रिकाएं होतीं, और कुछ सस्ते दामों में खरीदी हुई किताबें भी।

...किसी न किसी तरह वे सौ-दो सौ रुपये की पुस्तकें इधर-उधर करके खरीद ही लाते... मां जानकर भी नहीं कहतीं। बोलतीं तो *महाभारत* होता। मां ने शायद अपने को अभ्यस्त कर लिया था। पिताजी को इतनी छूट चाहिए ही थी। इसके बदले पिताजी घर का हर वह काम करते, जो गृहस्थ पत्नियां करती है।

एक तरह से देखा जाए तो हम तीनों की परवरिश पिताजी के हाथों ही हुई थी। हम किताबों के बीच ही खेल-कूदकर बड़े हुए थे। लेकिन किताबों के लिए हमने पिताजी से मार भी खूब खाई थी। कहीं किताब को नोंच लिया तो धुलाई, किसी के पन्ने फट गए तो डांट, किसी की जिल्द उतर गई तो तमाचे, किसी पुस्तक पर पेन चल गया तो कान खिंचाई...। मां बताती हैं कि हम लोगों के चलते तो लड़-झगड़कर उन्होंने दीवारों में ये रैक्स बनवाए थे।

मां बताती हैं कि एक बार तो मैंने वृहद हिंदी शब्दकोश पर पेशाब ही कर दिया था जिसके कारण पिताजी ने मुझे दो-तीन तमाचे जड़ दिए थे। फिर घंटों मां से लड़ाई होती रही। ऐसे वाक् युद्ध में पिताजी अधिक सबल सिद्ध होते। शब्दों के एक से एक जाल फेंककर वे मां को झकझोर देते ... तब मां अपना अंतिम हथियार 'अर्थ' उन पर फेंककर हिसाब चुकता कर देतीं और पिताजी धराशायी हो जाते।... पिताजी की कुछ-कुछ बातें मुझे भी बुरी लगतीं। जैसे पढ़ते-पढ़ते खाने-पीने तक का होश न रहना। अपनी किताबों को किसी को न छूने देना। यदि भूल से भी सेल्फ की किताबें इधर की उधर हो जातीं तो वे मरने-मारने पर तुल जाते। आपा खोकर कई अव्यावहारिक शब्द बोल जाते, जिससे मां और उनमें प्रायः कहा-सुनी हो ही जाती। मां कुछ ऐसा कह जातीं कि वे चुप हो जाते, और फिर वे गुस्सा और दुख लिए कई दिनों तक गुमसुम रहते। उन्हें लगता कि उनका जीवन व्यर्थ और निस्सार है। कभी-कभी वे इतना दुखी हो जाते कि उन्हें देखकर खुद भी मन रो उठता। जैसे किसी ने कान ऐंठकर उन्हें उनकी हैसियत की याद दिला दी हो...!

कभी-कभी ऐसा भी होता कि वाक् संघर्ष के दौरान वे घरेलू काम खोज-खोजकर करने लगते। मां से बहस हो रही होती और वे अपने स्टडी टेबुल पर लगी मां की उस खूबसूरत तस्वीर, जिसे उन्होंने बड़े प्रेम से मढ़वाया था झाड़-पोंछ कर रहे होते। यह देखते हुए बड़ा अजीब-सा लगता कि मां से 'तू-तड़ाक' करते हुए उन्हीं की बिखरी पड़ी ओढ़नी समेटकर तह करने में लगे रहते...उस समय पिताजी का चेहरा देखते ही बनता...।

जाहिर-सी बात थी कि यह गुस्सा दूध के उफान की तरह होता। यदि उस पर कोई हल्के प्यार भरे छींटे मारता तो गुस्सा शरीर से बाहर न गिरता...। मगर कोई नहीं समझता था किसी के मन के दुख को, उस समय...और क्षण भर में अठारह वर्षों के वैवाहिक जीवन की धज्जियां उड़ जातीं। यहां तक कि जान देने और जान लेने तक की नौबत आ जाती। फिर थोड़ा होश आते ही एक-दूसरे पर लानत-मलानत करके एवं स्वयं अपने पढ़े-लिखे होने पर थूकते। बच्चों पर इस लड़ाई के कुप्रभाव को महसूस करके भी आत्मग्लानि से भर-भर जाते। मगर उस वक्त कोई कदम पीछे नहीं हटाता।

मजे की बात यह थी कि वे क्रोध से भरकर चीख उठते और गुस्से में तनतनाते हुए रैक्स की सारी किताबें फर्श पर खींच-खींचकर फेंक देते। फिर उन्हें बंडल बनाते और एक-एक कर सिगनोरा ब्यूटी-पार्लर के निकट वाले सज्जाद कबाड़ी के यहां पहुंचाने लगते। मां चुपचाप देखती रहती। जैसे वे सब जानती हों कि इसके बाद क्या होगा? और पिताजी के क्रोध की सीमा क्या है? मैं घबरा जाती। मन रुआंसा हो जाता। दिल किसी अनर्थ भय से कांपने लगता। मैं सोचती कि कितनी मुश्किलों से उन्होंने किताबें इकट्ठी की हैं और वे इस तरह इन्हें फेंक देंगे, तो क्रोध में सबको जला डालेंगे।... मां भी उन्हें कुछ ज्यादा ही बेआब कर देतीं। मां का इस तरह उन्हें खंडित करना मुझे भी अच्छा नहीं लगता...। देखते ही देखते किताबों की पूरी रैक्स खाली हो जातीं। और वे मुर्दा लाश की तरह निःशब्द चिटाई पर पड़ जाते जैसे किसी प्रियजन की मौत हो गई हो...!

दूसरे दिन सज्जाद कबाड़ी का काला-कलूटा छोकरा एक-एक करके किताबों से सारे बंडल पहुंचा जाता। मां उसे दस-बीस रुपये दे देतीं। किताबें फर्श पर कई दिनों तक यूं ही पड़ी रहतीं जैसे किसी पाजी और बिगड़ैल पुलिस ने बेवजह कई शरीफों और सहज लोगों को मुश्कियां चढ़ाकर हाजत में डाल दिया हो।

...कई दिनों तक घर-संसार यूं ही निःशब्द चलता रहता। हम भाई-बहन भी कई दिनों तक शोर-शराबा नहीं करते। सहमे-सहमे रहते किताबों को कोई हाथ न लगाता।

...फिर किसी सुबह पिताजी का चेहरा खिल जाता और हम सब चहक उठते...

ऐसे बुझे और गुमसुम माहौल में पिताजी का हंसता हुआ चेहरा सारे घर के लिए संजीवनी होता।

...किताबें एक-एक कर नए ढंग से फिर सज जातीं। इस रख-रखाव में हम भी पिताजी का साथ देते! किताबें ...कई सौ, हजार किताबें। सबका अपना-अपना इतिहास, भूगोल, रंग-रूप विशेषता—प्रेमचंद, टाल्सटॉय, टैगोर, दास्तोवस्की, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, *बाइबल, गीता, कुरान, गुरु-ग्रंथ साहिब, रामचरित मानस,* उर्दू शायरी, अज्ञेय, बच्चन...।

ऐसे तमाशे कई बार हो चुके थे। इसलिए मां पिताजी के गुस्से के ताप की अभ्यस्त हो चुकी थीं। वह जानती थीं कि 'वह' दर का भिखारी 'जाऊं कहां तज चरण तुम्हारे' इतना भावुक है कि किसी को मारकर खुद रोने लगता है—हद तो यह है कि कोई दिल छू लेने वाली कहानी पढ़कर या टी.वी. देखकर उसकी आंखें भर आती हैं। हमसे उनका लगाव मां से भी अधिक था, क्योंकि अधिक समय तो वही दे पाते थे, जैसे कोई रिटायर्ड काका, काकू, नाना, दादा...

... कभी-कभी वे स्वयं ऊबकर कहते—"सब बेकार है! क्या लाभ इतने अध्ययन से! इससे तो जीवन में और अशांति ही बढ़ती है! जितना समझो, दुनिया उतनी ही पेचीदा होती जाती है। मैं जानता हूं, तुम्हारी मां के तनाव में रहने की वजह...वही तो सब करती हैं, घर से बाहर तक ... उनसे थोड़ा समझौता हमें करना ही चाहिए...।"

पर पिताजी यह बोलकर भर्रा जाते—"क्या करूं, जितना मेरे बस में है, वह सब करता हूं! एक तरह से यह ठीक ही है कि मैं घर पर समय दे पाता हूं, नहीं तो तुम लोगों की देख-रेख कौन करता...?

"...तुम्हें मालूम है कि हुमायूं बहुत ही बड़ा विद्वान था। उसकी अपनी लाइब्रेरी थी। वह फारसी का अच्छा कवि था। हुमायूं की उदारता एवं विद्वत्ता की चर्चा कम होती है। वह किताबों में ही दबकर मरा था। देखना, एक दिन मैं भी उन्हीं किताबों में दबकर मर जाऊंगा...!"

वे एक-एक पैसा जोड़कर न जाने कहां-कहां से दुर्लभ पुस्तकें खरीद लाते और अपने सेल्फ में सजा देते। मां यह सब देखकर जल उठतीं। उल्टी-सीधी बातें बोलतीं, पर पिताजी अपने इस अपराध पर कुछ न बोलते।

वे धार्मिक नहीं थे और न ही ईश्वर में उनकी कोई गहरी आस्था थी। मगर मक्का-मदीना घूमना चाह रहे थे, जहां से हजरत मुहम्मद ने एक नया पंथ चलाकर सारी दुनिया को यह बता दिया कि एक उम्मी (निरक्षर, निपढ़) भी दुनिया को अपनी बौद्धिक ज्योति से प्रकाशमान कर सकता है।

पिताजी ने किताबों के महत्व को समझाते हुए हमें एक ऐतिहासिक घटना सुनाई थी—

"...फाहियान जब भारत से मूल्यवान पुस्तकें लेकर जलमार्ग से लौटने लगा तो उसके साथ भारतीय नाविक और सेवक बैठ गए थे, जिससे नाव बीच मझधार में पहुंचकर बोझ से डगमगाने लगी। दो ही रास्ते थे—या तो कुछ किताबें पानी में फेंक दी फेंक दी जाएं या एक-दो लोग नाव से पानी में छलांग लगा दें...! किताबें दुर्लभ एवं भेंट स्वरूप थीं।...अतः दो नाविक अपनी जान की परवाह किए बगैर नाव के बोझ को हल्का करने के लिए निःसंकोच कूद गए!...और सिखों के यहां तो 'पुस्तक' की ही पूजा होती है। गुरुद्वारों में क्या होता है? गुरुग्रंथ साहिब!..."

उनकी इच्छा थी कि उनके बाद भी ये सारी किताबें इसी तरह रहें। इनसे छेड़छाड़ करने से उन्हें तकलीफ होगी। जबकि वे परलोक, आत्मा, परमात्मा में विश्वास नहीं रखते थे।

...मैं जानती हूं कि कई किताबें वे मित्रों के यहां से उठा भी लाए थे। यह मोटी-सी हरी जिल्द वाली किताब, मनोज पांडे के यहां से उठा लाए थे। और झट नाम लिखकर बच्चों की भांति रैक में सजाकर मग्न हो गए थे। फिर हमें बताया भी। वे कहते कि किताबें उठा लेना कोई अपराध नहीं होता। इसकी कोई सजा विधान में नहीं है।

तीन नंबर, एम.बी.जी. लेन के उस सीलन भरे कमरे से उठकर जब हम पांच, बी.के.शाह रोड की इमारत के दूसरे माले पर आए थे तब तक बहुत कुछ बदल गया था। सन्नाटे में डूबे रहने वाला नुक्कड़ हांगकांग मार्केट की वजह से देर रात तक चकाचौंध रहने लगा था। इंच-फुट से जमीनें बिकने लगी थीं। बगल के तजम्मुल हुसैन अंसारी की वह ऐतिहासिक रुई की दुकान पार्टी ऑफिस में तब्दील हो चुकी थी और तजम्मुल हुसैन राज्य सरकार के मंत्रिमंडल के कई पदों पर रहते हुए मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे चुके थे। उनके व्यक्तित्व का जादू खत्म हो चुका था। उनको लोग प्रायः भूलते जा रहे थे। उनकी जगह भरने के लिए उनकी पहली ब्याहता देहाती पत्नी का बेटा उनका हमशक्ल, हमआवाज, हमकलाम, हमस्टाइल पुत्र वसीमुल हुसैन अंसारी कई वर्षों से कोशिश कर रहा था..

यहां आकर पिता कुछ आलस्य से घिर गए थे। उन्होंने अखबार पढ़ना छोड़ दिया था। सोते वक्त एक बार खबर सुन लेते।

...शायद कमाने की उम्र पार कर जाने के बाद जीवन में फिर कुछ करने की इच्छा नहीं होती। पिताजी थके-थके से रहते थे। बस किताबों के बीच घंटों बैठे रहते, जैसे वक्त काट रहे हों।

एक दिन बड़े प्रसन्नचित्त, खुशी-खुशी तीन किताबों के साथ वे घर लौटे। उनकी खुशी का कारण थीं—वे तीन किताबें...। दस रुपये में *मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियां* और पंद्रह रुपये में गोर्की के *मदर* का हिंदी अनुवाद तथा पांच रुपये में टैगोर की *गीतांजलि*, जो किसी फुटपाथ से मिल गई थीं। जैसे उन्हें कोई खजाना मिल गया हो।

वे अपनी उपलब्धियों को मां से कई बार बयान कर चुके थे—"जानती हो, यह मोहन राकेश की किताब डेढ़ सौ रुपये की है, यह रवींद्रनाथ टैगोर की ओरिजनल *गीतांजलि* जिस पर उन्हें 'नोबेल' मिला था। और यह दुनिया का प्रसिद्ध उपन्यास *मदर* है। देखो, फुटपाथ पर पड़ी थी। कितनी महत्वपूर्ण किताबें हैं! पता नहीं क्यों, लोग ऐसी किताबें कबाड़ी को रुपये, दो रुपये में बेच देते हैं। कितने नीरस और कितने बेलज्जत होते जा रहे हैं, लोग...! किताबों से खाली कोई साक्षर रह सकता है क्या?"

मां कुछ न बोलीं।

फिर वह मुझे दिखाने लगे—"देखो-देखो, यही *गीतांजलि* है...!"

भाइयों को ऐसी बातें कुछ भी समझ में नहीं आती थीं और अंत तक वे पिताजी को व्यर्थ व खब्ती समझते रहे। पिताजी मुझे समझदार व आज्ञाकारी मानते थे। वे कहते थे—"लड़कियां अधिक समझदार व जिम्मेदार होती हैं। उनमें शक्ति ज्यादा होती है।"

हम तीन भाई-बहनों में, मैं एक बड़ी थी। दो भाई मुझसे छोटे थे इसलिए मां के बाद घर की जिम्मेदारी को समझना मेरी मजबूरी थी। पिताजी ने मुझे पढ़ाने की हर कोशिश की, पर बी.ए. (ऑनर्स) के बाद मुझे मां की जिद पर घर बैठना पड़ा। मैं अपने तौर पर कुछ आय करने लगी। कुछ पढ़ने-पढ़ाने का काम शुरू कर दिया। एक स्कूल ज्वाइन कर लिया। कुछ ट्यूशंस शुरू कर दिए।...

लेकिन पिताजी को यह सब ठीक नहीं लगता। वे चाहते थे कि मैं खूब पढ़ूं। प्रोफेसर बनूं, लेक्चरर बनूं...। भाइयों की पढ़ाई से वे संतुष्ट नहीं थे। न भाइयों को ही अपनी जिंदगी की कोई फिक्र थी।

मां पिताजी के असफल जीवन से निराश हो गई थीं। उनकी विद्वत्ता, उनका ज्ञान दो पैसे का नहीं रह गया था। वे दसवीं फेल किसी पान वाले से मशवरे लेतीं, पर पिताजी की किसी गहरी बात पर ध्यान नहीं देतीं। वे कहतीं कि उन्हें क्या चिंता है! घर-संसार कैसे चलता है!

बेटी सयानी हो गई है। जनाब हैं कि अपनी किताबों की दुनिया में ही डूबे हुए हैं...? अरे! अब तो शायद होश आ ही जाना चाहिए...!

शायद दुनिया का सच भी यही है। जो जीतता है, सिकंदर हो जाता है और हारे हुए लोग लंगूर या बंदर होकर डाल-डाल उछलते-कूदते रहते हैं, तमाशा बन जाते हैं।...

पिताजी के कुछ मित्र थे, जो उन्हें 'हाउस हसबेंड' कहा करते थे। पर वे कुछ भी नहीं कहते, लेकिन जब कभी मां अपने कमाने के गुमान को बयान करने लगतीं तो, वे बड़ी गंभीर होकर कहते—"इसमें क्या है! ईश्वर ने तुम्हें आय संपन्न किया है, तुम्हें समाज और घर-संसार में सम्मान दिया है, यह भारत की कितनी मुस्लिम औरतों को नसीब है! तुम्हें तो गर्व करना चाहिए न कि अपनी आय संपन्नता के डंडे से रह-रहकर मर्दों को मारना चाहिए!"

"आपको क्या चिंता है? घर-बार के सारे काम मुझे ही करने पड़ते हैं। सारी चिंताएं मेरे ही सिर हैं...लड़की की फिक्र लगी रहती है...!" मां कुछ अधिक गंभीर होकर कहतीं।

लेकिन पिताजी बड़ी बेफिक्री में बोलते—"कोई चिंता की बात नहीं! सब समय पर हो जाएगा। मैं तो कहता हूं कि बेटी को ऐसा बनाओ कि लोग दहेज देकर ले जाएं! गुणवान की हर जगह कद्र होती है।...वैसे भी इस्लाम में तो पहले मेहर अदा करना होता है, बीवी को गोद में लेने से पहले!"

मां झुंझलाकर कह उठती—"मालूम है, मेहर है क्या? एक प्रकार का 'मुतअ' ही तो है, जो अरब में प्रचलित था। अरबवासी अपनी लौंडियों को 'मुतअ' के लिए देते थे और बदले में धन (मेहर) ले लिया करते थे। यह उनकी आमदनी का एक साधन था। और बाद में यही 'मेहर' लड़की का धन अर्थात 'स्त्रीधन' करार दे दिया गया, जो निकाह के बाद उसे दे देना चाहिए, लेकिन कौन देता है और कौन इसकी परवाह करता है? हां, कुछ लोग अपनी पत्नी से माफ करवा लेते हैं। यानी देना-लेना दोनों वायवीय रहता है...!'

पिताजी ने जैसे हारकर कहा—"हां भइ, यहां तो सब उल्टी रवायत चलती है। बेटी दो, बोटी दो, घर दो, लंगोटी दो....!"

फिर मां साधते हुए बोलतीं—"तभी तो कहती हूं कि दुनिया के अपने कायदे-कानून हैं, सिस्टम है....!"

पिताजी फिर अपनी बात को सिद्ध करने की कोशिश करते—"अगर मेरी बेटी आई.ए.एस. या कोई उच्च अधिकारी हो जाए तो लोग दहेज नहीं लेंगे?...उसे पढ़ने दो, शहर में पढ़ने वाली लड़कियां बूढ़ी नहीं होतीं...!"

"चुप रहिए और कुछ सोचिए, जिससे कोई रास्ता निकले। लड़के तो कुछ भी कर लेंगे। कभी भी शादी कर लेंगे! ...मैं तो भुगत रही हूं। खुदा न करे, आप जैसा कोई निराला, मतवाला अनाड़ी, किताबी मिल जाए, तो लड़की बेकार हो जाएगी। मैंने तो संभाल लिया किसी तरह...!"

पिताजी उसी मिजाज में बोलते—"निराला मतवाला ही मिले, तभी तो निभ पाएगी। यह मेरी लड़की तो कम अकड़ वाली नहीं है, तुम्हारी तरह... और वैसे भी लड़कियां तो यह कामना करती हैं कि—"सोने का बंगला हो बंगले में गाड़ी हो, गाड़ी में मेरा सजना अनाड़ी हो!"

मां उसी कुढ़न में जवाब देतीं—"बस बैठे-बैठे सपने बुनिए और किताबें पढ़िए! सारा मसला हल हो जाएगा...। ये किताबें आपकी पूंजी हैं। सारा जीवन इन्हें ही संजोते रहे! अरे! कितना पैसा मिलेगा इन्हें बेचने से...!"

'बेचने' के नाम से वे क्रोधित हो जाते फिर जैसे सच्चाई महसूस करके हथियार डाल देते। उसके बाद जैसे गहरी चिंता में कई दिनों तक डूबे रहते—गुमसुम, खोए-खोए से।

ऐसे ही उदास और हताश दिनों में एक रिश्तेदार आया और बातों ही बातों में किसी लड़के के रिश्ते की बात कह गया। लड़का सरकारी महकमे में उच्च अधिकारी था। उसकी हैसियत और स्टेटस को सोचकर मां-पिताजी दोनों ही आगे बात चलाने की हिम्मत न जुटा सके।

पहली बार शायद पिताजी को अपनी निर्धनता और भारहीनता का एहसास हुआ था, जो बहुत मुश्किल से उनके चेहरे पर दिखी थी। मैंने उनको मां से कहते हुए सुना था—"आह! कितना अच्छा रिश्ता हाथ से निकल गया!... क्या बात करता? उसके लायक तो कुछ भी नहीं है अपने पास..!"

जब मुसीबतें कई रूप बदलकर आती हैं, तो खुशियां भी कई तरह से दबे-पांव आकर घर-आंगन में बिखर जाती हैं। यह बात और है कि हमें इसका अहसास नहीं होता...। हां, यह सच है कि शहरों में आंगन नहीं होते, पर पांच नंबर बी. शाह रोड के दूसरे माले के छज्जे पर कबूतर क्रीड़ा करने लगे थे...

लेकिन मियां अफसर इकबाल—इकबाल के अफसर अर्थात् भाग्यशाली—उसी दिन से बड़े उदास हो गए थे।

फिर एक दिन वही रिश्तेदार अचानक लड़के को लिए आ पहुंचा हमारे घर...!

मां-पिताजी घबरा गए। भौंचक और घबराए-शर्माए लोग! कहां बिठाएं, कहां उठाएं की स्थिति में थे। लड़के ने बड़ी सहजता से सब कुछ संभाल लिया। कुछ बुनियादी बातों पर चर्चा हुई और शादी पक्की हो गई।

'क्या ऐसा भी हो सकता है..?' अब मैं कभी-कभी खुद से सवाल करती हूं तो उत्तर मिलता है—'क्यों नहीं, पितृमुखी...!'

...लेकिन उन बुनियादी बातों में एक शर्त ऐसी थी कि पिताजी हिल गए। हम लोग भी डर-से गए। मगर पिताजी ने तुरंत अपने को संभाल लिया। मां को हैरत हुई थी और हमें भी।

लड़के (अब मेरे शौहर) ने कहा — "देखिए, लड़की मुझे पसंद है, और कुछ भी नहीं चाहिए मुझे। बस, एक शर्त है...? शर्त क्या, गुजारिश है, निवेदन है कि ये सारी किताबें मुझे दे दीजिए...!"

शादी के कुछ ही दिनों बाद पिताजी भी दुनिया से चले गए जैसे कि उन्होंने अपना काम कर लिया हो, ड्यूटी पूरी कर ली हो या किताबों के दुख को सह न पाए हों।

आज वे नहीं हैं, लेकिन हर पल ऐसा लगता है कि वे मेरे आस-पास रहते हैं। उनकी किताबें मुझे डांटती हैं, निर्देश देती रहती हैं। ❑

संपर्क : 3-बी, बंगाली शाह वारसी लेन, दूसरा तल, फ्लैट नं. 4, खिदिरपुर, कोलकाता-23

टकराहटों के बीच नया सौंदर्यशास्त्र

साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र : संपादक : देवेंद्र चौबे; किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य : 495 रुपये।

हिंदी साहित्य में पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र पर दलित साहित्यकारों ने अनेक सवाल उठाए थे, तथा दलित सौंदर्यशास्त्र की पक्षधरता का मुद्दा खड़ा किया था। इस विमर्श में मुख्य स्वर पारंपरिक, स्थापित साहित्य के सामंतवादी, ब्राह्मणवादी स्वरूप का विरोध रहा है। गत वर्षों में इस पर व्यापक चर्चा हुई है। इसी संदर्भ में *साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र* पुस्तक की ओर ध्यान जाता है जिसमें नए सौंदर्यशास्त्र के अनेक आयामों पर चर्चा की गई है। इस पुस्तक को चार भागों में बांटा गया है—'प्रतिरोध का सौंदर्य', 'नए साहित्य (स्त्री संदर्भ) का सौंदर्य', 'नए साहित्य (दलित-लेखन) का सौंदर्य' और 'साहित्य का ऐतिहासिक सौंदर्य'। पुस्तक में अनेक आलोचकों के लेख समायोजित किए गए हैं। देवेंद्र चौबे पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—'पुस्तक में शामिल आलेख, पिछले एक-डेढ़ दशक से भारतीय समाज में जो-जो तब्दीलियां आई हैं, उसके गवाह रहे हैं। इस पुस्तक में शामिल सभी आलोचकों की मानसिकता का निर्माण सातवें से नवें दशक के अंतिम वर्षों में शुरू हुए नक्सलवाद से लेकर भारतीय समाज के निम्नवर्गीय (जाति) तबकों द्वारा किए गए प्रतिरोधों के तरीकों से प्रभावित रहा है; लेकिन सच यह भी है कि बचपन से लेकर युवापन की स्मृतियों का गहरा प्रभाव कहीं न कहीं, कहे-अनकहे छाप बनाए रखता है।' इससे पता चलता है कि आलोच्य पुस्तक में शामिल आलोचक युवा हैं, नए बदलाव की प्रक्रिया में शामिल हैं। साथ ही इस पीढ़ी ने नए सामाजिक यथार्थ की चुनौतियों को भी स्वीकारा है। देवेंद्र चौबे यह भी मानते हैं कि प्रतिरोध की समानांतर धाराओं की अनेक पर्तों को खोलते हुए पाठ, पाठ में आए शब्द, समाज, इतिहास, जाति, देश, जनता जैसे अनेक संदर्भों की व्याख्या और विश्लेषण करने की कोशिश की गई है।

इस संदर्भ में युवा आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी का आलेख 'मध्यकालीन सत्ता विमर्श का पहलू' ध्यान आकर्षित करता है। 'साहित्य का ऐतिहासिक सौंदर्य' खंड में शामिल इस आलेख में बजरंग बिहारी तिवारी ने गंभीर प्रश्न उठाए हैं—'भक्ति आंदोलन के आचार्य और रचनाकार राजनीतिक सत्ता के प्रति उदासीन थे। इस आम राय को एक क्षण के लिए अगर हम सच मान लें तो अगला प्रश्न स्वाभाविक रूप से यह उठता है कि भक्ति आंदोलन का निर्माण और विकास करने वाले लोग सभी तरह के सत्ता तंत्रों से निरपेक्ष थे? क्या वे कोई समानांतर सत्ता प्रतिष्ठान नहीं रच रहे थे? इस प्रश्न का कुछ उत्तर हमें तब प्राप्त होता है, जब हम आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ध्यान देते हैं।'

बजरंग बिहारी तिवारी ने भक्ति आंदोलन के बाह्य और आंतरिक संघर्षों की पड़ताल गंभीरता से करते हुए ऐसे अनेक तथ्यात्मक संदर्भों का विश्लेषण किया है, जो इस काल की स्थितियों को समझने, जानने में मदद करते हैं। उनका कहना है—'सगुण धारा के तमाम संप्रदाय, सभी मुद्दों और समस्त कार्य योजनाओं पर एकमत हैं और उनके अपने अंतर्विरोध नहीं हैं। सगुण धर्म-संप्रदायों के आंतरिक संघर्षों पर ध्यान न देने से उतने ही भ्रामक निष्कर्ष निकल सकते हैं, जितने निर्गुण-सगुण विवाद को नजरअंदाज करने से, मध्यकाल में सगुण भक्ति का प्रचार करने के लिए जो तमाम धर्म-संप्रदाय बने, उनके बीच एक विशिष्ट किस्म का संबंध विकसित हुआ। यह रिश्ता जितना परस्पर सहयोग से निर्मित होता था, उससे कहीं ज्यादा अपनी टकराहटों से।'

इसी खंड में ओमा शर्मा का आलेख है—'आखिरी दशक की कहानी', जिसमें वह वर्ग-चेतना के संदर्भ में गोविंद मिश्र, नासिरा शर्मा, चंद्र किशोर जायसवाल, मैत्रेयी पुष्पा, संजीव की कहानियों की चर्चा करते हैं। दलित चेतना को लेकर उनके कुछ पूर्वाग्रह हैं जिसके कारण उन्हें दलित कहानियों में संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दिखाई नहीं पड़ती है। दलित कहानियों ने जो अपनी पहचान निर्मित की है उसे वे अनदेखा करके सिर्फ दलित कथाकारों की दलित विषयक कहानियों से पीड़ाजनित गुस्सा, प्रतिरोध या प्रतिशोध ही देखते हैं। उनके इस लेख में दलित कहानियों को खारिज कर देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। उनकी यह आलोचनात्मक दृष्टि आलोच्य पुस्तक के संपादकीय पर ही प्रश्नचिह्न लगाती प्रतीत होती है। अपने संपादकीय में देवेंद्र चौबे जिस दृढ़ता और विश्वास के साथ सामाजिक बदलाव की पक्षधरता दिखाते हैं, उस नए सौंदर्यशास्त्र के विकास के विरुद्ध ओमा शर्मा खड़े दिखाई देते हैं। देवेंद्र चौबे लिखते हैं—'यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि जो सवाल हमारे पहले की पीढ़ी के पास थे, वही सवाल हमारी पीढ़ी के पास नहीं हैं। यहां कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनसे पहली बार समाज का सामना हुआ है, तथा जिनकी चर्चा हमने स्त्री, दलित, आदिवासी संदर्भ से लेकर वैश्वीकरण के प्रसंग में की है। इन सवालों—खासकर 'स्त्री' और 'दलित'—से टकराने तथा संवाद करने का साहस आलोचकों की इस नई पीढ़ी ने किया है, तथा उस समाज के यथार्थ को समझने का प्रयास भी।' ओमा शर्मा इस यथार्थ को समझने की बजाय उसे कटघरे में खड़ा करने की कोशिश करते हैं। जबकि इसी पुस्तक में एक पूरा खंड है जिसमें दलित साहित्य की वैचारिकता, प्रतिबद्धता की विशद चर्चा है और दलित साहित्य की अंतः चेतना देखने का अवसर देती है।

विवेक कुमार अपने आलेख 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' में कहते हैं—'...अखिल भारतीय स्तर पर आज 'दलित' ही उनकी एकमात्र अस्मिता है। दलित पैंथर्स, सभी जानते हैं कि मराठी दलित साहित्य की कोख से जन्मा है, और इस राजनीतिक आंदोलन ने पहली बार सवर्ण साहित्य पर प्रश्नचिह्न लगाया कि वह यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है।' विवेक कुमार यह भी लिखते हैं—'परंतु यह सत्य है कि आज दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य हर विधा, यथा—कविता, कहानियों, नाटकों, आत्मकथाओं में जो भी उपलब्ध है, वह सवर्ण साहित्य से भिन्न लगता है। जैसा कि दलित आत्मकथाओं

के परोक्ष प्रकार्य से ज्ञात होता है। इस संदर्भ में जहां सवर्ण आत्मकथाओं में महिमामंडित भूत पर गर्व करना ही साध्य है, वहीं दलित आत्मकथाओं में प्रामाणिकता की कसौटी पर भोगी हुई पीड़ा, भोगे हुए शोषण एवं उत्पीड़न को जीवित रखते हुए इतिहास का सृजन करने के साथ-साथ सवर्ण समाज की क्रूरता तथा पतित संस्कृति को उजागर करना है।'

डा. रामचंद्र 'हिंदी दलित विमर्श की वैचारिकता' में लिखते हैं—'वर्ण और जाति की जन्मना हकीकत से जद्दोजहद किए बगैर कोई भी लेखन, चिंतन और आलोचन अपूर्ण होगा। वर्चस्व और उत्पीड़न के बरक्स संघर्षरत, स्त्री और दलित के सवालों से टकराए बिना कोई भी आलोचना एकांगी होगी। अस्मिता संघर्ष के दौर में हिंदी आलोचना को भी अपनी भूमिका और दिशा को स्पष्ट करने की जरूरत है, अन्यथा अपने वजूद और अधिकारों के लिए संघर्षरत अस्मिताएं किसी को माफ नहीं करेंगी।

दलित विमर्श के सैद्धांतिक पक्ष को समझे बगैर उसकी आलोचना करना आलोचकों की मानसिक संकीर्ण दृष्टि का ही परिचय देता है। नए सौंदर्यशास्त्र की विकास यात्रा में यह एक अहम सवाल है।

आलोच्य पुस्तक में बद्रीनारायण, रश्मि चौधरी, देवेंद्र चौबे, हेमलता महिश्वर, हितेंद्र पटेल, प्रदीप तिवारी के महत्वपूर्ण आलेख शामिल हैं, जो विमर्श के लिए विविधता और व्यापक दृष्टि की भावभूमि तैयार करते हैं। गोपाल प्रधान, प्रभात रंजन के आलेख गंभीर विवेचन एवं तर्कशीलता के द्वारा अपनी वैचारिकता प्रस्तुत करते हैं।

यह पुस्तक सौंदर्यशास्त्र के विभिन्न पहलुओं की निर्मिति के लिए विमर्श का रास्ता खोलती है, जहां पुरानी मान्यताओं के साथ नए विचार, नई चेतना, नया संघर्ष सामने खड़े हैं, जिन्हें साहित्यिक विमर्श में शामिल किया जाना चाहिए। अमित शर्मा 'रामविलास शर्मा के संदर्भ से भारतीय संस्कृति का समाजशास्त्र' विषय के द्वारा या रश्मि चौधरी 1857 और कुंवर सिंह के एतिहासिक संदर्भ से भारतीय राष्ट्रवाद का निम्नवर्गीय प्रसंगों की व्याख्या या फिर 'हिंदू विधवा का प्रश्न' (सुधारवाद से राष्ट्रवाद) का मुद्दा ज्योति अटवाल द्वारा उठाए गए, 'भारतीय नवजागरण और स्त्री प्रश्न' (संदर्भः भारतेंदु हरिश्चंद्र और बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय) की चर्चा रूपा गुप्ता करें, या फिर हेमलता महिश्वर द्वारा *स्त्री और समय* में स्त्री समस्याओं और उनकी दशा विवेचना—ये तमाम आलेख नए सौंदर्यशास्त्र की विकास प्रक्रिया को समझने में मदद करते हैं।

विद्यापति, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, जैनेंद्र, भिखारी ठाकुर, राही मासूम रजा, भीष्म साहनी आदि पर की गई चर्चा में महत्वपूर्ण सामग्री संकलित की गई है। इन विविधताओं और वैचारिकताओं के बीच ही प्रश्नों को संदर्भों के साथ जोड़कर देखने में यह पुस्तक महत्वपूर्ण लगती है। साहित्य के आंतरिक और वाह्य संदर्भों को जानने के लिए, पुस्तक समाजशास्त्र और इतिहास को साहित्य के लिए, आलोचना को विस्तार देने के लिए, नए सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना में सहायक होगी।

—ओमप्रकाश वाल्मीकि

घोंसला

पृष्ठ 19 से आगे

वे एक कंपायमान विस्मय के घेरे में घिरे हुए खड़े रहे, अपने जेहन में फैले हुए सन्नाटे की गूंज सुनते रहे। फिर जोर से सांस ली। होठों पर कुछ उदासी से जबान फेरी और आगे बढ़े। पहले उन्होंने कब्रों के इर्द-गिर्द से खुश्क टहनियां, सूखे पत्ते और कंकर-पत्थर साफ किए। फिर कब्रों पर फूल डाले और अगरबत्तियां जलाईं और फातिहा पढ़ी। फिर अपनी मां की कब्र की पायंती आकर जमीन पर बैठ गए और गहरी तन्मयता की अवस्था में अपनी मां का कत्बा देखते रहे। गुलाब की पत्तियों की महक और अगरबत्ती का सुगंधित धुआं फिजा में फैल रहा था और उस रेशमी धुएं में वह अपनी अम्मा का चेहरा देख रहे थे— खूबसूरत, मेहरबान और दुआ देता हुआ!

चंद लम्हे बाद वे पलटे। उनकी अम्मा की कब्र की पायंती काफी जमीन खाली थी। उन्होंने उस खाली जमीन पर नजर डाली। फिर एकाएक पलटकर हैदर की तरफ देखा— "बस, यह जगह मेरे लिए ठीक रहेगी।"

हैदर ने सटपटाकर उन्हें देखा— "चचा, यह क्या कह रहे हैं आप?"

"ठीक कह रहा हूं। अम्मा के कदमों में यह जगह मेरे लिए बिल्कुल मुनासिब रहेगी...!"

हैदर हक्का-बक्का होकर रह गया— "मगर चचा, अल्लाह न करे, आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं?"

वे हंस पड़े। फिर स्नेहपूर्ण लहजे में बोले— "अरे, भई, परेशान मत होओ। मैं तो सिर्फ यह कह रहा हूं कि..."

हैदर ने बात काटकर कहा—"फिर भी ऐसी बात कहने की जरूरत क्या है आखिर...!"

वे एकाएक संजीदा हो गए। गंभीर नजरों से हैदर को देखा। हाथ उठाकर सिर के नीम-सफेद बालों में उंगलियां फेरीं। फिर होठ खोले, तो उनकी आवाज में कंपन था—"हैदर, तुम जानते हो, परिंदे सुबह-सवेरे अपने घोंसलों से निकलते हैं। दाने-दुनके की जुस्तजू में अक्सर दूर तक जाते हैं— अनजानी, अजनबियों वादियों और मैदानों में, और सारा दिन दाने-पानी की तलाश में प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन जब दिन खत्म होता है और शाम घिरती है, तो कहीं टिकते नहीं, कहीं बसेरा नहीं करते। मीलों का फासला तय करना पड़े, तो भी रात घिरने से पहले लौटकर अपने घोंसले में वापस आ जाते हैं...!"

"वे चुप हो गए। लम्हा भर गहरी नजरों से शून्य में घूरते रहे। फिर होठों पर जबान फेरी— "अब शाम हो रही है, हैदर...!" आखिरकार उन्होंने कहा— "और अब मैं चाहता हूं कि रात होने से पहले मैं भी अपने घर लौट आऊं..!" ❑

संपर्क : श सग़ीर अदीब : 65 ब्लैक बर्न स्ट्रीट, ब्लैक बर्न लेन्स, बी बी आई टी एन जी (यू के)

सुरजीत : सी-34, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015

पुस्तक परिचय

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के महानायक

वीर कुंवर सिंह : रश्मि चौधरी; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, सूचना भवन, नई दिल्ली-110003; पृष्ठ संख्या : 90; मूल्य : 50 रुपये।

सन 1857 का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम राष्ट्र-राज्य के रूप में आधुनिक भारत के सगर्व और सजग उठकर खड़े होने का प्रस्थान बिंदु है। भारतीय समाज, इतिहास और राजनीति—सभी के विश्लेषण के लिए यह महासमर मील का पत्थर रहा है। संदर्भ चाहे भारतीय अस्मिता की तलाश का हो अथवा औपनिवेशिक शोषण के अंधेरे के बीच धीरे-धीरे मगर पूरी गरिमा और आत्मविश्वास के साथ उभरती लोकतांत्रिक तस्वीर का—1857 के वर्ष ने अतीत से संवाद करते हुए भविष्य को दिशा दी है।

1857 के महासंग्राम को डेढ़ सौ वर्ष पूरे हो चुके हैं। डेढ़ सौ वर्ष का समय, भावनाओं के ज्वार के उतार के बाद, राष्ट्रीय घटनाओं के पुनरवलोकन, उनके वैज्ञानिक, वस्तुपरक, समग्र विश्लेषण और इस प्रक्रिया से गुजरते हुए भविष्य-दृष्टि पाने का समय है। प्रकाशन विभाग ने इस दिशा में सजगता से अपना दायित्व निभाते हुए '1857 के अमर सेनानी' शृंखला के तहत, इस संग्राम के प्रमुख नायकों पर संक्षिप्त लेकिन समग्र पुस्तकें प्रकाशित की हैं। *वीर कुंवर सिंह* (लेखिका – डा. रश्मि चौधरी) इस शृंखला की प्रथम पुस्तक है।

जगदीशपुर (आरा) के जमींदार कुंवर सिंह की शौर्यगाथा राष्ट्रप्रेम, निष्ठा और युद्ध कौशल की अनूठी मिसाल है। अस्सी साल के इस बूढ़े शेर ने ब्रिटिश सत्ता को अनेक मोर्चों पर कड़ी टक्कर दी। वीरता का चरम उत्कर्ष यह कि एक हाथ में गोली लगने पर उन्होंने स्वयं दूसरे हाथ से घायल हाथ को काटकर गंगा को समर्पित कर दिया और युद्ध का नेतृत्व जारी रखा। इसके दो दिन बाद, 23 अप्रैल 1958 को अंग्रेज सेना को पराजित किया और 26 अप्रैल 1858 को विजेता के रूप में जगदीशपुर में अपनी ही माटी में वीरगति प्राप्त की।

लेकिन इस कथा का इतना ही गरिमामय पक्ष जनवाणी में उजागर होता है। यह पक्ष भोजपुर अंचल के लोकगीतों, गाथाओं और अनेक पीढ़ियों बाद तक सुरक्षित जन-स्मृतियों में सुरक्षित है। इसका अध्ययन हमें बताता है कि कुंवर सिंह का संघर्ष मात्र एक जमींदार का सत्ता-संघर्ष भर नहीं था, वह आततायी, औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिकार में, 'जन' का पूर्ण विश्वास प्राप्त किए हुए एक जननायक का संघर्ष था। बड़े पैमाने पर, यह विश्लेषण 1857 के समूचे स्वतंत्रता संग्राम पर भी लागू होता है जो अपनी समग्रता में भारतीय जन-गण का विदेशी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध, धर्म, जाति, इलाके की संकीर्णताओं से परे, प्रथम सम्मिलित संघर्ष था।

प्रस्तुत पुस्तक में सरकारी दस्तावेजों और लड़ाइयों के कालक्रमानुसार ब्यौरों के साथ-साथ, लोक-मानस को अभिव्यक्त करते लोक-साहित्य और जन-स्मृतियों के माध्यम से भी कुंवर सिंह के व्यक्तित्व तथा योगदान को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, 1857 के महासंग्राम की समग्रता में कुंवर सिंह तथा आरा की संघर्ष-कथा को पिरोया गया है। सबाल्टर्न दृष्टि को समुचित महत्व देते हुए लेखिका ने भोजपुर अंचल में रचे-बसे कुंवर सिंह की गौरव-गाथा को संजोए अनेक लोकगीत भी पुस्तक में संकलित किए हैं।

हालांकि ये भोजपुरी गीत समकालीन और अनाम लोक परंपरा से स्वतः सिरजे नहीं हैं और भारत की स्वतंत्रता के बाद के कवियों द्वारा 'रचे' गए हैं; लेकिन इनका स्वर और सार तत्कालीन 'लोक' की संवेदनाओं, तकलीफों और अपेक्षाओं को समेटे हुए है। ऐसा लगता है कि नब्बे वर्ष की परतंत्रता के दौर में जन-जीवन की कई पर्तों में सीझते हुए लोक-स्वर को, स्वतंत्रता के बाद कवियों ने रूप दिया है और परंपरा को सजीव बनाया है। कुंवर सिंह के हाथ में गोली लगने और अविचलित होकर हाथ गंगा को अर्पित करने का विवरण देखिए—

रामा कुंवर के देखि दुशमनवा रे ना
रामा कइले बंदूक के निशनवा रे ना
रामा गोली आई लागल दहिना हाथवा रे ना
रामा हाथ होइ गईल बेकारवा रे ना
रामा जानेकर हाथ बेकमवा रे ना
रामा काटि दिहले लेके तरवरवा रे ना
रामा कहेले जे लेहु गंगा हाथवा रे ना
रामा देतबानी आज उपहरवा रे ना
रामा कही कर उतना वचनवा रे ना
रामा डाली दिहले गंगा जी में हाथवा रे ना
रामा गंगा जी के रहल नजरानवा रे ना!

पुस्तक में 'झांसी की रानी' कविता की शैली में मनोरंजन प्रसाद सिंह का लोकप्रिय गीत भी संग्रहीत है। गीत की अंतिम पंक्तियां देखें—

वही कुंवर की अंतिम जय थी
और वही अंतिम संग्राम
आठ महीने लड़ा शत्रु से
बिना किए कुछ भी विश्राम।
घायल था वह वृद्ध केशरी,
थी सब शक्ति हुई बेकाम
अधिक नहीं टिक सका
और वह वीर चला थककर सुरधाम।
तब भी फहरा रहा दुर्ग पर
उसका विजय निशाना था
सब कहते हैं, कुंवर सिंह भी
बड़ा वीर मर्दाना था।

महानायकों के अनेक साथी-संगियों की वीरता और बलिदान अक्सर अजाने रह जाते हैं। लेकिन इस छोटी-सी पुस्तक में कुंवर सिंह के अनेक सहयोगियों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

पुस्तक की मुख्य विशेषता उसकी 'दृष्टि' में है जहां 1857 के महासंग्राम के अग्रणी नायक कुंवर सिंह और आरा के लोक-नायक कुंवर सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्रता में समेटा गया है और इस विश्लेषण के जरिए विराट राष्ट्रीय धारा तथा इसकी पोषक तथा संघटक स्थानीय लोक-धाराओं की समग्रता तथा एकरूपता को प्रस्तुत किया गया है।

1857 के विभिन्न स्वतंत्रता-सेनानियों के बारे में, विश्लेषणात्मक समग्र मोनोग्राफों की उपलब्धता, इस प्रसंग के अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण होगी।

प्रकाशन विभाग की प्रकाशनाधीन शृंखला की प्रथम पुस्तक इसी उद्देश्य की पूर्ति का सार्थक प्रयास है।

— रा. प.

वातायन

अठारहवां विश्व पुस्तक मेला

नई दिल्ली स्थित प्रगति मैदान में 2 से 10 फरवरी के मध्य नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा अठारहवें विश्व पुस्तक मेले का आयोजन सफलतापूर्वक किया गया। विश्व-भर से आए 23 देशों के 1300 प्रकाशकों द्वारा प्रदर्शित पुस्तकों को एक साथ देख पाना पुस्तक प्रेमियों के लिए अद्भुत अनुभव रहा। इस दौरान लगभग दस लाख पुस्तकें विविध विषयों व भाषाओं में प्रदर्शित की गईं।

अतिथि देश बनने का सम्मान पाया रूस ने। रूस के 30 से भी ज्यादा लेखक-बुद्धिजीवी तो मेले में उपस्थित थे ही, 80 से अधिक प्रकाशकों ने भी रूस की पुस्तकें प्रदर्शित कीं। अतिथि देश की पुस्तकों के अतिरिक्त बाल एवं युवा मंडपों में पुस्तक प्रेमियों का विशेष आकर्षण देखने को मिला। 'शब्दों में गांधी' पुस्तक प्रदर्शनी भी सराहनीय रही। इसके अंतर्गत विश्व की लगभग 150 भाषाओं में प्रदर्शित पुस्तकें और 60 वृत्तचित्रों का प्रदर्शन उल्लेखनीय रहा।

आलेख प्रकाशन ने 'भूमंडलीकरण के दौर में पुस्तक की भूमिका' पर पूरे दिन की एक चर्चा दो सत्रों में आयोजित की, जिसका उद्घाटन प्रो. निर्मला जैन ने किया। मेले में सर्जनात्मक लेखन, पुस्तक समीक्षा और विविध विषयों पर कार्यशालाएं भी आयोजित की गईं। प्रकाशन विभाग, नेशनल बुक ट्रस्ट और एन सी ई आर टी की पुस्तकों के प्रति सर्वाधिक आकर्षण पाया गया। अनेक संगोष्ठियों, लोकार्पणों और लेखक से मिलने के कार्यक्रमों में उल्लेखनीय भागीदारी पाई गई।

उद्घाटन समारोह में मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह के संदेश को उच्च शिक्षा के विशेष सचिव के. एम. आचार्य ने पढ़कर सुनाया कि 'पुस्तकें मनुष्य की बेहतर दोस्त ही नहीं होतीं, वे अपने साथ जीवन का सच भी लेकर चलती हैं।'

आज की हिंदी-उर्दू कहानी

जामिया मिल्लिया इस्लामिया के हिंदी-उर्दू विभाग ने 19-20 फरवरी को कथाकार कुर्रतुल एन हैदर की स्मृति में दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया। इसका उद्घाटन प्रो. नामवर सिंह ने किया। उद्घाटन सत्र में बीज वक्तव्य दिया कथाकार जोगिंदर पाल ने और अध्यक्षता की प्रो. सदीकुर्रहमान किदवई ने।

दूसरा सत्र 'आज का यथार्थ और हिंदी-उर्दू कहानी' पर केंद्रित रहा जिसमें आलेख पाठ किया महेश दर्पण और अबूबकर अबाद ने। दोनों आलेखों में हिंदी और उर्दू कहानी में आज के यथार्थ की विस्तार से चर्चा थी। तीसरा सत्र कहानी-पाठ का था। अरुण प्रकाश और सैयद मुहम्मद अशरफ के कहानी-पाठ की अध्यक्षता प्रो. मैनेजर पांडेय और प्रो. काजी ओबैदुर्रहमान हाशमी ने की।

दूसरे दिन प्रो. निर्मला जैन और देवेंद्र इस्सर की अध्यक्षता में 'जादुई यथार्थवाद और हिंदी-उर्दू कहानी' पर चर्चा के लिए आलेख पाठ किया प्रो. रामबक्ष और प्रो. अतीकुल्लाह ने। 'कहानी की भाषा और शिल्प' पर डा. गंगाप्रसाद विमल और महमूद हाशमी की अध्यक्षता में आलेख-पाठ किया गोविंद प्रसाद और तारिक छतारी ने। दूसरे दिन की कहानी-पाठ गोष्ठी में मृदुला गर्ग और खुर्शीद अकरम ने कहानियां पढ़ीं और अध्यक्षीय वक्तव्य दिया शमीम हनफी व हिमांशु जोशी ने।

महेंद्रपाल शर्मा, प्रो. असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, खालिद महमूद, शहयर रसूल, अजय नावरिया, दुर्गाप्रसाद गुप्त, शहनाज अंजुम, कौसर मजहरी, हेमंत जोशी, नीरज कुमार व वहाज उद्दीनअल्वी सहित अनेक विद्वानों ने चर्चा में भाग लिया।

व्यंग्यश्री सम्मान

व्यंग्यकार विष्णु नागर को हिंदी भवन में व्यंग्यश्री सम्मान प्रदान किया गया। समारोह की अध्यक्षता डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने की और मुख्य अतिथि थे कवि कुंवर नारायण। साहित्यिक दृष्टि से व्यंग्य को विष्णु नागर ने एक दलित विधा बताते हुए कहा कि कुछ लोग व्यंग्य लिखने से बच रहे हैं। यह बहुत कठिन काम है। कुंवर नारायण ने कहा कि व्यंग्य मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। डा. त्रिपाठी ने इस अवसर पर गोपाल प्रसाद व्यास को स्मरण किया।

छठा अंतर्राष्ट्रीय हिंदी उत्सव

छठा अंतर्राष्ट्रीय हिंदी उत्सव 1 से 3 फरवरी के बीच दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर और हिंदी भवन में हुआ। भारत के गृह राज्य मंत्री श्रीप्रकाश जायसवाल ने इसके प्रारंभ में ही कहा कि 'हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों के बढ़ते प्रयोग और समन्वय से हिंदी और अधिक समृद्ध होगी।'

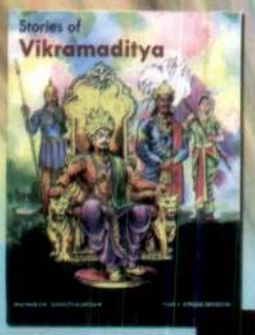
तीन दिन के इस उत्सव के मुख्य संयोजक थे 'अक्षरम' के संयोजक अनिल जोशी। समन्वयक थे नरेश शांडिल्य और संयोजन में प्रमुख भूमिका निभाई विमलेश कांति वर्मा ने।

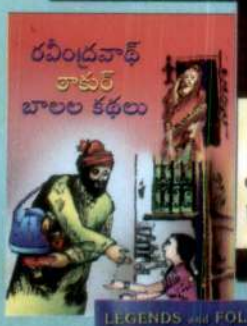
भाषाई समन्वय पर केंद्रित गोष्ठी में कन्हैयालाल नंदन, हरमन वॉन ऑल्फन, प्रो. जी. गोपीनाथन, वाई. लक्ष्मी प्रसाद और प्रो. सादिक ने चर्चा की। विषय प्रवर्तन करते हुए डा. कृष्ण कुमार ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के समन्वय की जरूरत पर बल दिया।

'वैश्वीकरण के दौर में मीडिया', 'दलित संत साहित्य', 'रचना संसार', 'हिंदी और प्रौद्योगिकी', 'हिंदी ग़ज़ल और दोहा', रचनाओं और रचनाकारों पर बनी फिल्में, अंतर्राष्ट्रीय कवि गोष्ठी, 'अनुवाद विमर्श', 'देश में हिंदी', 'हिंदी अध्ययन और अनुसंधान', 'तुलसी साहित्य की विश्व व्यापकता', 'विदेश में हिंदी', 'कारपोरेट जगत और हिंदी', 'वैश्विक प्रभाव और हिंदी बाल साहित्य' सरीखे विषयों पर गंभीर चर्चा हुई। इस अवसर पर 18 विद्वानों का सम्मान भी किया गया। अक्षरम साहित्य शिखर सम्मान कैलाश वाजपेयी को प्रदान किया गया। 'कोर्ट मार्शल' का मंचन और संगीत संध्या भी आकर्षक रही।

अधिकांश वक्ता सुधीश पचौरी के इस विचार से सहमत थे कि हिंदी क्षेत्र को मीडिया ने अंग्रेजी चश्मे से देखा है—यह ठीक नहीं है। विभिन्न चर्चाओं में राहुल देव, वेद प्रताप वैदिक, आलोक मेहता, अच्युतानंद मिश्र, माता प्रसाद, महीप सिंह, बलदेव वंशी, सत्येंद्र श्रीवास्तव, हरजेंद्र चौधरी, ब्रजेंद्र त्रिपाठी, विजय कुमार मल्होत्रा, कुंअर बेचैन, बालेंदु दाधीच, अजय गुप्ता, शेरजंग गर्ग, रनजीत साहा, सुलभा कोरे, शंभूनाथ, रमेश गौतम, महेंद्र वर्मा और सूर्य प्रसाद दीक्षित सहित अनेक विद्वानों ने भाग लिया। ❑

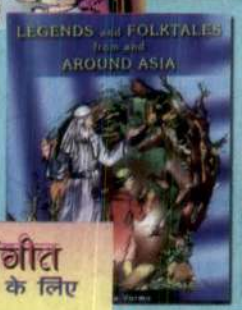
बच्चों के लिए दिलचस्प किताबें

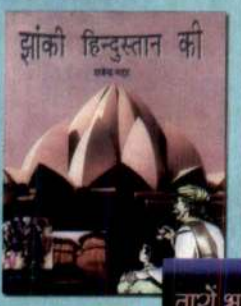


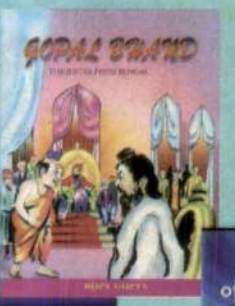




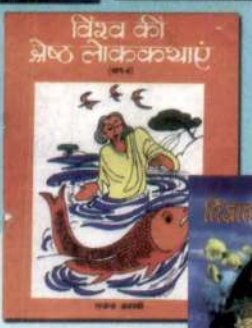
* दुनिया भर से समेटी हुई सदियों पुरानी लोक कथाएं
* नई तकनीकों की जानकारी मनोरंजक भाषा में
* सामाजिक मुद्दों पर बच्चों को जागरूक बनाने के लिए सूचनाप्रद किताबें
* उनकी कल्पनाओं को पंख लगा देने वाली रोचक कहानियां







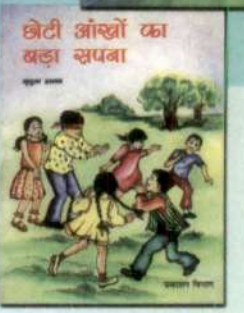












विक्रय केंद्रः सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली–110 003. हाल नं0 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110 054. सी–701, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई–400 614. 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कोलकाता–700 069. राजाजी भवन, एफ एंड जी ब्लॉक, 'ए' विंग बेसेंट नगर, चेन्नई–600 090. बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800 004. प्रेस रोड, निकट गवर्मेंट प्रेस तिरुअनंतपुरम–695 001. हाल नं.1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, सेक्टर–एच, अलीगंज, लखनउ–226 024. ब्लॉक नं. 4, गृहकल्प कॉम्प्लेक्स, एम.जे. रोड, नामपल्ली, हैदराबाद–500 001. प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर–560 034. अम्बिका कॉम्प्लेक्स, प्रथम तल, पालदी, अहमदाबाद–380 007. हाउस नं. 07, न्यू कालोनी, चेनीकुथी, के.के.बी. रोड, गुवाहाटी–781 003.

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें– व्यापार व्यवस्थापक, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,
सूचना भवन, लोधी रोड, नई दिल्ली–110003, फोनः 011–24367260, फैक्सः 011–24365609

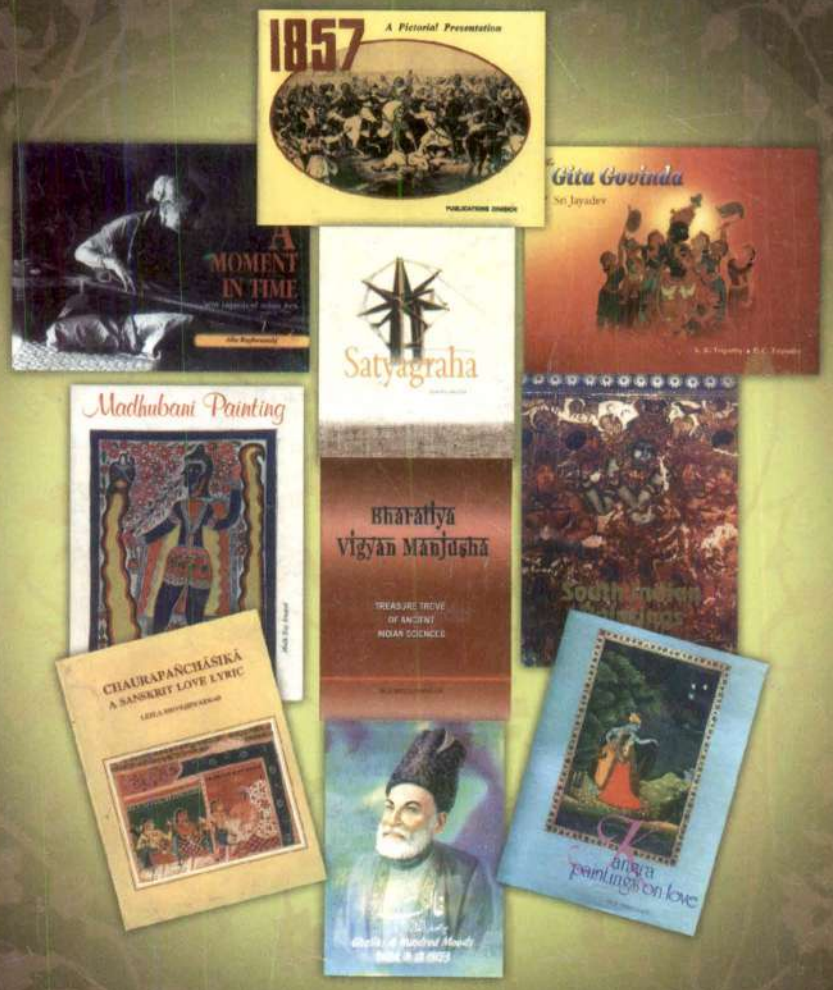
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

e-mail: dpd@sb.nic.in, dpd@hub.nic.in
website: publicationsdivision.nic.in

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस)-05/3222/2006-08 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस U(DN)49/2006-08
Postal Regn No DL(S)-05/3222/2006-08 दिल्ली डाक आर एन 701/57
Licenced U(DN) 49/2006-08 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RN701/57

वार्षिक मूल्य : 100 रुपये

प्रकाशन विभाग की अमूल्य कृतियां



विक्रय केंद्र: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110 003. हाल नं0 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली-110 054. सी-701, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई-400 614. 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कोलकाता-700 069. राजाजी भवन, एफ एंड जी ब्लॉक, 'ए' विंग बेसेंट नगर, चेन्नई-600 090. बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800 004. प्रेस रोड, निकट गवर्मेंट प्रेस तिरुअनंतपुरम-695 001. हाल नं.1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, सेक्टर-एच, अलीगंज, लखनउ-226 024. ब्लॉक नं. 4, गृहकल्प कॉम्प्लेक्स, एम.जे. रोड, नामपल्ली, हैदराबाद-500 001. प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर-560 034. अम्बिका कॉम्प्लेक्स, प्रथम तल, पालदी, अहमदाबाद-380 007. हाउस नं. 07, न्यू कालोनी, धेनीकुथी, के.के.बी. रोड, गुवाहाटी-781 003.

अधिक जानकारी के लिए हमारी वेबसाइट देखें www.publicationsdivision.nic.in
e-mail:dpd@sb.nic.in, dpd@hub.nic.in

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

ई मेल:dpd@sb.nic.in, dpd@hub.nic.in
वैबसाइट: publicationsdivision.nic.in

प्रकाशक व मुद्रक, वीना जैन, अपर महानिदेशक(प्रभारी) द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, एच-44, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित। वरिष्ठ संपादक : योगेन्द्र दत्त शर्मा